आत्मधर्म

मासिक : वर्ष-१९ * अंक-५ * जनवरी-२०२५

જ્ઞાનાનંદ
ज्ञानानंद

અખંડાનંદ
अखंडानंद

પૂર્ણાનંદ
पूर्णानंद

લાભાનંદ
लाभानंद

પરમાનંદ
परमानंद

શિવાનંદ
शिवानंद

બ્રહ્માનંદ
ब्रह्मानंद

નિજાનંદ
निजानंद

ચિદાનંદ
चिदानंद

નિત્યાનંદ
नित्यानंद

સહજાનંદ
सहजानंद

ધ્યાનાનંદ
ध्यानानंद

५५

ॐ સચ્ચિદાનંદ
ॐ सच्चिदानंद

સહજ સ્વરૂપાય નમઃ
सहज स्वरूपाय नमः

નિર્મલાનંદ
निर्मलानंद

આત્માનંદ
आत्मानंद

ભાવાનંદ
भावानंद

તત્ત્વાનંદ
तत्त्वानंद

વિશિષ્ટાનંદ
विशिष्टानंद

સ્વરૂપાનંદ
स्वरूपानंद

आगम महासागरके अमूल्य रत्न

● श्री जिनेन्द्र भगवानका कहा हुआ 'मान' यह है जो मान-परिणाम चिंतवन करे : आत्मा परमात्माके बराबर है–ऐसा मानना ही 'मान' कहा जाता है।७२।

(श्री तारणस्वामी, ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक-१४०)

● हे भव्य जीवो! आत्मा ही के द्वारा आत्माका मनन करो। जिसका स्वरूप शुद्ध है, रागादि मलरहित है, उसे उत्कृष्ट स्वभावधारी परमात्मारूप ही मानो। परमात्माके स्वभावको नमन करके अर्थात् श्री सिद्ध भगवानको अपने भावोंमें प्रीतिपूर्वक धारण करके, दिव्यदृष्टिसे अपनेको वैसा ही जानकर उसी दिव्यस्वभावका मनन करो क्योंकि जिस पर्यायको प्राप्त करना है उसीकी भावना करनेसे वह पर्याय प्रकट हो सकती है।७३।

(श्री तारणस्वामी, ममलपाहुड, भाग-२, पृष्ठ-६५)

● विवक्षित एकदेश शुद्धनयाश्रित यह भावना (अर्थात् कहीं जाने योग्य आंशिक शुद्धिरूप यह परिणति) निर्विकार, स्वसंवेदन लक्षण क्षायोपशमिकज्ञानरूप होनेसे, जोकि व्यक्तिरूप है तो भी ध्याता पुरुष ऐसा भाते हैं कि जो 'सकलनिरावरण, अखंड, एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्ध पारिणामिक, परमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य वही मैं हूँ, परन्तु ऐसा भाता नहीं कि 'मैं' खंडज्ञानरूप हूँ।७४।

(श्री जयसेन आचार्य, समयसार टीका, गाथा-३२०)

● वीतराग, निर्विकल्प, समाधिरूप, भावलिंग यद्यपि शुद्धात्मस्वरूपका साधक है, इसलिये उपचारनयकर जीवका स्वरूप कहा जाता है, तो भी परमसूक्ष्म शुद्धनिश्चयनयकर भावलिंग भी जीवका नहीं है। भावलिंग साधनरूप है, वह भी परम अवस्थाका साधक नहीं है।७५। (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, अध्याय-१, गाथा-८८की टीका)

● ज्ञानकी पर्यायमें ज्ञानावरणके मंद व अधिक क्षयोपशमकी अपेक्षा निगोदसे लेकर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यंत अनंत भेद हैं। जो पर्यायस्वरूप ज्ञानकी अनुमोदना करता है, एकाकार शुद्धज्ञानको नहीं जानता है, वह ज्ञानमें अंतराय डाल रहा है। यदि यह अंतराय न देखा जावे और शुद्धज्ञानको पहिचाना जावे तो वह निर्मल, स्वाभाविक आत्माको अवश्य सिद्धि पानेका उपाय है।७६।

(श्री तारणस्वामी, उपदेश-शुद्धसार, श्लोक-३९०)

वर्ष-19
अंक-5

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्ग दर्शानेवाली मासिक पत्रिका

वि. संवत 2080
January
A.D. 2025

परमागम श्री प्रवचनसार पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन

(गाथा ५९ के प्रवचनमेंसे)

केवलज्ञान एक ही परिपूर्ण सुख है

दसलक्षणीपर्वमें आज उत्तम त्याग धर्मका दिन है। चैतन्यमें रागकी उत्पत्ति न होना वीतरागदशा उत्पन्न होना वह उत्तम त्याग धर्म है।

श्रावकके धर्ममें चार प्रकारके दान कहे हैं वह व्यवहारसे कहे है। परवस्तुका त्याग तो आत्मा कर सकता नहीं है लेकिन अशुभरागका त्याग कर शुभराग करना वह भी त्यागधर्म नहीं है। रागका स्वामित्व छोड़कर चैतन्यका आश्रय करने पर वीतरागी दशा उत्पन्न होने पर शुभाशुभ रागका सहज त्याग हो जाता है वह उत्तम त्याग धर्म है।

यहाँ केवलज्ञानी ही परिपूर्ण सुखी है यह बात चल रही है। इन्द्रियके लक्षसे देवदर्शन, पूजा, सामायिक, पौषध आदि जो कुछ भी शुभभाव जीव करता है वह पुण्यबंध अर्थात् संसारका कारण होता है। उससे धर्म होता नहीं है और सुख होता नहीं है। अतीन्द्रिय केवलज्ञान एक ही परम सुख है। वह केवलज्ञान स्वयं आत्मासे होता है, सर्व आत्मप्रदेशोंसे जानता है, अनंता पदार्थोंको एक साथ एक समय जानता है, स्पष्ट है और अवग्रहादि क्रमरहित जानता है, इसलिये उसमें लेशमात्र भी आकुलता नहीं है।

अब इन्द्रियज्ञान आकुलतामय है ऐसा बतलाते है।

श्री सुमतिनाथ जिन-स्तुति	विधि वा निषेध सापेक्ष सही, गुण मुख्य कथन स्याद्वाद यही;	श्री स्वयंभू–स्तोत्र

(१) स्वयंके स्वभावको भूलकर इन्द्रियके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाला इन्द्रियज्ञान पराधीन है। भगवानके दर्शन, पूजा आदिके लक्षसे होनेवाला सब ज्ञान पराधीन है।

(२) इन्द्रियज्ञान आँखके प्रदेश द्वारा ही देखनेका कार्य करता है, आत्माके सर्व प्रदेशों द्वारा देखा नहीं जा सकता, इसलिये पराधीन है, आकुलतावाला है।

(३) इन्द्रियज्ञान एक विषयको जानते समय अन्य विषयोंको जान नहीं सकता इसलिये आकुलतामय है।

(४) संशय-विपरीतता-विभ्रम दोषके कारण यथार्थ बोध होता नहीं है।

(५) अवग्रह, इहा, अवाय और धारणा आदि क्रमपूर्वक इन्द्रियज्ञान उत्पन्न होते है, एकसाथ ज्ञान होता नहीं है इसलिये दुःखी होता है।

इन कारणोंसे इन्द्रियज्ञान–परोक्षज्ञान–आकुलतावाला ही है उसमें सुख नहीं, केवलज्ञान आकुलता रहित है इसलिये वह परमसुख है ऐसा अब कहते है।

(१) केवलज्ञान चैतन्यके अनादि नित्य स्वभाव पर विकास प्राप्त कर फैलता है। केवली भगवानको जड़ इन्द्रिय और मन होता है लेकिन उनको उसका आश्रय होता नहीं है। केवलज्ञान ध्रुवस्वभावके लक्षसे प्रकट होता है इसलिये आत्माधीन है। प्रकट होनेके बाद प्रतिसमय उसका परिणमन हुआ करता है, वह ध्रुवशक्ति अंतरमें विद्यमान है उसमेंसे प्रकटरूप आती है।

सिद्ध भगवंतोंको बहुत वर्ष पूर्व केवलज्ञान प्रकट हुआ इसलिये उनके ध्रुवस्वभावमें कुछ भी कमी हुई ऐसा नहीं है और नित्यनिगोदका जीव अनादिसे संसारदशामें है और केवलज्ञान प्रकट नहीं इसलिये उसका ध्रुवस्वभाव बढ़ गया है ऐसा नहीं है। क्योंकि अधिक-कम ध्रुवस्वभावमें नहीं है। नित्यनिगोदके जीवका और सिद्धके जीवका ध्रुवस्वभाव तो एक रूप है। उस शक्तिका विश्वास करके जीव उसका आश्रय करे तो केवलज्ञान प्रकट होता है। वह केवलज्ञान आत्माधीन होनेसे उसमें आकुलता होती नहीं है।

(२) केवलज्ञान आत्माके सर्वप्रदेशोंमें परम प्रत्यक्ष है। सर्व प्रदेश द्वारा जानता है। अल्प दशामें इन्द्रियज्ञानके समय निमित्त होनेकी योग्यता कुछ प्रदेशोंमें होती है लेकिन केवलज्ञानमें ऐसा नहीं है। केवलज्ञान सर्व आत्मप्रदेशोंको जान सकता है इसलिये उसमें आकुलता नहीं है।

इम तत्त्व प्रदर्शी आप सुमति,
थुति नाथ करू हो श्रेष्ठ सुमति।२५।

(३) केवलज्ञानमें लोकालोक समाहित हो गया है। संपूर्ण लोकालोक विविधतारूप है उसे केवलज्ञान जानता है जैसे पेटमें पानी समा जाता है वैसे लोकालोक उसके जाननेमें आ जाता है। बाह्य दृश्यमान ज्ञेय पदार्थों केवलज्ञानमें मिल नहीं जाते। ज्ञेय मिल जाते हो तो रूपीके गुण अरूपीमें मिल जाय लेकिन ऐसा कदापि बनता नहीं है। ज्ञेय स्वतंत्र उपस्थित रहकर ज्ञानमें जाननेमें आ जाते है।

लोकालोकसे अनंत लोकालोक हो तदपि एक समयमें जाननेका सामर्थ्य केवलज्ञानकी एक समयकी अवस्थामें है। लोकालोक समाप्त हो जाय लेकिन केवलज्ञान समाप्त नहीं होता ऐसी केवलज्ञानकी विशालता है। जैसे मंडप नीचे लता विस्तरीत होते होते पूरा मंडप घेर ले फिर भी लता समाप्त नहीं होती वैसे केवलज्ञानरूपी लता महाविकाससे व्याप्त हो रही है वह कभी भी समाप्त नहीं होती।

कोई प्रश्न करे कि एकबार केवलज्ञानमें सब कुछ जाननेमें आ गया तो फिर दूसरे समयमें जाननेका शेष क्या रहा ? उसका उत्तर यह है कि शुद्धस्वभावमेंसे प्रतिसमय आनंद, ज्ञान आदि पर्यायें नवीन उत्पन्न होती रहती है उसे केवलज्ञानी जानते-अनुभव करते हैं। लोकालोकके ज्ञेय पदार्थ समय समय पर विविधताको प्राप्त होते है ऐसी ही विविधता समय समय पर केवलज्ञानमें सहज जाननेमें आ जाती है। ज्ञेयोंमें विविधता है। इसलिये ज्ञानमें विविधता ज्ञेयोंको लेकर है ऐसा नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय दोनोंकी स्वतंत्रता है।

कोई जीव धर्मसभामें प्रश्न करे तो भगवानको उसका उत्तर देनेके लिये वाणीको निकालना पड़े–भगवानको उत्तर देना पड़े–ऐसा केवली प्रभुको होता नहीं है। प्रश्नकारकी शंका भगवान पूर्वसे ही जानते है और उसका व्यक्तिगत उत्तर देना भगवानको होता नहीं है। ओंकार ध्वनिमें उसका उत्तर सहजमें आ जाता है।

इस प्रकार केवलज्ञान परिपूर्ण है अतः उसे किसी पदार्थको जाननेकी इच्छा नहीं है इसलिये आकुलता रहित है अर्थात् सुखरूप है।

केवलज्ञान एक ही परिपूर्ण सुख है

आत्माके पूर्ण सुखका कारण क्या यह बात चल रही है। ध्रुव चैतन्यका आश्रय करके वर्तता पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान वह पूर्ण सुखका कारण है।

(१) आत्मा शरीर, पैसा, कुटुम्ब तथा देव-गुरु-शास्त्रसे पृथक् है इसलिये उसमें

श्री पद्मप्रभ जिन-स्तुति	पदमप्रभ पद्म समान शरीर, शुचि लेश्याधर रूप गंभीर;

आत्माका सुख नहीं है और उससे आत्माका सुख होता नहीं है।

(२) आत्मासे भिन्न ऐसी परवस्तुओंको स्वयंकी मानकर आत्माकी अवस्थामें जो पुण्य-पापके भाव होते हैं वह विकारी भाव होनेसे उनमें भी सुख नहीं है।

(३) परवस्तुमें और विकारमें सुख मानकर ज्ञानका जो परलक्षी क्षयोपशम होता है वह क्षायोपशमिक ज्ञान भी इन्द्रियजनित होनेसे आकुलतावाला है। उसमें सुख नहीं है फिर भी सुखकी मान्यता करना वह मिथ्या है और दुःखका कारण है।

(४) आत्माको कोई परवस्तु, विकार और परलक्षसे होनेवाला ज्ञानका अल्प प्रतिभास भी सुखका कारण नहीं है। ध्रुव चैतन्यके आश्रयसे प्रकट होनेवाला पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान ही आत्माको सुखका कारण है। इसलिये वह उपादेय है ऐसा नक्की करके उसकी श्रद्धा और आश्रय करने पर धर्मीको अतीन्द्रिय ज्ञान एवं आंशिक आनंद प्रकट होता है वह भी आत्माके पूर्ण सुखका कारण नहीं है।

आत्माके पूर्ण सुखका कारण पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान है वह पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान ध्रुव चैतन्यद्रव्यके अवलंबनसे ही प्रकट होता है इसलिये वह कारण है अर्थात् वह ध्रुव चैतन्यद्रव्यके आश्रयसे जो केवलज्ञान प्रकट हो वह तेज पूर्ण सुखका साधन है। केवलज्ञान परिपूर्ण सुख है उसके तीन बोल कल प्रवचनमें आ गये है।

(१) केवलज्ञान इन्द्रियके अवलम्बन बिनाका आत्माधीन है, (२) अतीन्द्रिय प्रदेशोंसे एक साथ सबकुछ जानता है। (३) और सभी पदार्थोंको एक साथ जानता है इसलिये उसमें आकुलता नहीं। आज उससे आगेके बोल कहे जाते है।

(४) निमित्तोंकी ओरका आश्रय सर्वथा मिट गया है और आत्मस्वभावका सर्वथा साथी हुआ है, पुनः ज्ञानावरणीय कर्म नाश हुआ है इसलिये केवलज्ञान अत्यंत स्पष्ट चैतन्य प्रकाशवाला विमल है उसमें नीचेकी दशामें विद्यमान शंका, विपरीतता आदि दोष होते नहीं है इसलिये केवलज्ञानमें आकुलता नहीं है।

(५) लोकालोकके ज्ञेय पदार्थों स्वयंकी तीनों कालकी अवस्था सहित केवलज्ञानमें एक समयमें जाननेमें आ जाते है ऐसा ज्ञेयोंका स्वभाव होनेसे ज्ञेयों युगपद केवलज्ञानमें जाननेमें आ जाते है। अपूर्णदशामें छद्मस्थका ज्ञान एक ज्ञेय बाद दूसरे ज्ञेयको जानता और वह भी अवग्रह इहा आदि क्रमपूर्वक जानता होनेसे उसमें खेद होता है लेकिन केवलज्ञानमें

परम श्री शोभित मूर्ति प्रकाश,
कोमल सूरजवत् भव्य विकाश।२६।

सभी पदार्थोंका युगपद् ज्ञान होनेसे खेद होता नहीं है अर्थात् आकुलता नहीं। इसलिये निश्चित होता है कि केवलज्ञान ही एक परिपूर्ण सुख है और वह ही उपादेय है।

अज्ञानी जीव मानता है कि गुरुकी वाणीसे शिष्यको लाभ हुआ और वाणी व शुभरागसे ज्ञान हुआ लेकिन वह मान्यता मिथ्या है।

(१) गुरुकी वाणी शिष्यके कानको स्पर्शी ही नहीं क्योंकि दोनोंका एक दूसरेमें अन्योन्य अभाव है।

(२) गुरुकी वाणी शिष्यके जीवको कभी स्पर्शी ही नहीं है इसलिये उससे ज्ञान होता नहीं है क्योंकि दोनोंका एक दूसरेमें अत्यंत अभाव है।

(३) गुरुका ज्ञान शिष्यके ज्ञानको कभी स्पर्शा ही नहीं इसलिये गुरुके ज्ञानसे शिष्यको ज्ञान होता नहीं क्योंकि एक दूसरेका अत्यंत अभाव है।

(४) वाणीके लक्षसे होनेवाला शिष्यका शुभराग जो चारित्रगुणकी विकारी पर्याय है वह शिष्यके ज्ञानगुणकी पर्यायको स्पर्शी नहीं है इसलिये उसके द्वारा भी ज्ञानकी अवस्था खीलती नहीं है क्योंकि एक-दूसरेका अतद्भाव है।

(५) शुभाशुभभाव चाहे कितने भी तीव्र हो फिर भी स्वयंके शुद्धस्वभावको कदापि स्पर्श किया ही नहीं है क्योंकि एकदूसरेमें अत्यंत अभाव है।

(६) स्वयंके ज्ञानगुणकी पूर्व अवस्था भी ज्ञानकी वर्तमान अवस्थाको स्पर्शती नहीं। चाहे कितना पूर्वका परलक्षी क्षयोपशम हो तदपि वर्तमान ज्ञानकी अवस्थाको मदद करता नहीं क्योंकि एकदूसरेमें अभाव है।

(७) साधकदशामें भी सम्यक् ज्ञानकी पूर्व पर्याय, पश्चात् होनेवाली ज्ञानपर्यायको मदद करती नहीं। गणधर भगवान जो चार ज्ञानके धनी है जिन्हें बारहवें गुणस्थानकी ज्ञानकी अवस्था तेरहवें गुणस्थानकी अर्थात् केवलज्ञानकी अवस्थाको स्पर्शी ही नहीं सम्यक् श्रुतज्ञानसे केवलज्ञान प्रकटता नहीं है एक दूसरेमें परस्पर अभाव है।

(८) केवलज्ञान होनेके बाद भी केवलज्ञानकी एक समयकी अवस्था दूसरे समयकी केवलज्ञानकी अवस्थाको स्पर्शी ही नहीं केवलज्ञानकी प्रथम पर्यायके कारण केवलज्ञान स्थित रहता नहीं क्योंकि दोनोंका एक दूसरेमें अभाव है। एक दूसरेमें अभाव स्वभाववाली वस्तु अन्य वस्तुको क्या मदद करे ? कुछ भी नहीं। प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्याय स्वतंत्र उपस्थिति

(शेष देखे पृष्ठ २३ पर)

धरत ज्ञानादि रिद्धि अविकार,
परम ध्वनि चारु समवसृत सार;

श्री इष्टोपदेश पर पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन

प्रवचन नं.-३८ (गाथा ३४-३५)

स्वतंत्रताकी घोषणा

यह श्री इष्टोपदेशकी ३४वीं गाथा चलती है। इस गाथामें पूज्यपादस्वामी 'आत्माका गुरु आत्मा स्वयं ही है' ऐसा सिद्ध करते है।

स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हित (तं) प्रयोक्तृत्वादत्मैव गुरुरात्मनः॥३४॥

निज हित अभिलाषी स्वयं, निज हित नेता आत्म,
निज हित प्रेरक छे स्वयं, आत्मानो गुरु आत्म. ३४.

जब जीवको स्वयं ही सत्की अभिलाषा जागृत होती है तब उसे कोई रोक सकता नहीं और जब उसे संसारकी अभिलाषा होती है तब गुरु आदि कोई उसे मोक्षकी अभिलाषा करा सकते नहीं। इसलिये वास्तवमें आत्माका गुरु आत्मा स्वयं है।

संसारके वैभव, यश, कीर्ति, पुण्यादि कि जिसमें सुख नहीं है तदपि अज्ञानी उसमें सुखकी अभिलाषा करता है उसे कौन रोक सकता है ? जहाँ स्वयंके ही अंतरसे सत्सुखकी अभिलाषा जागृत न हो तब तक गुरु उसका क्या करे !

सत्सुखकी अभिलाषा अर्थात् आत्माके पूर्ण आनंदरूप मोक्षकी अभिलाषाकी बात है। मोक्ष एक ही सुखरूप है, उसके अतिरिक्त चार गति, कीर्ति, इज्जत आदि सब दुःखरूप है और दुःखका कारण है शेष परद्रव्य और रागादिसे पृथक् होकर जीव स्वयंकी पूर्ण आनंददशा प्रकट करता है वह मोक्ष है। वह ही सत्सुख है। ऐसे सत्की अभिलाषा करनेवाला आत्मा स्वयं है इसलिये स्वयंका गुरु स्वयं है।

इस जीवने असत् सुखमें-कल्पनामें अनंतकाल व्यतीत किया, उसमें धूलमात्र सुख नहीं है। स्वर्गमें, इज्जत, कीर्तिमें, स्त्री-पुत्रादिमें, पैसेमें, अफसरसाहीमें, परकी बड़ाईमें कहीं भी सुख नहीं है। सुख तो एक मोक्षमें है। ऐसा जानते जिनके सभी असत् सुखोंकी

रहे अरहंत परम हितकार,
धरी बोधश्री मुक्ति मंझार।२७।

अभिलाषा तूटकर एक सत्सुखकी अभिलाषा जागृत हुई है वह जीव स्वयं ही स्वयंका गुरु है। ऐसी अभिलाषा जागृत होती है तब उसको उपदेश देनेवाले गुरुको निमित्त कहा जाता है किन्तु जिन्हें अभिलाषा नहीं उसको गुरु लाख उपदेश दे तदपि गुरु उसे सत्की अभिलाषा करा देते नहीं है।

जिन्हें संसारके असत् सुखोंके प्रति वैराग्य जागृत हुआ है और निरंतर एक ही भावना रहती है कि 'मैं मेरा सत्सुख-मोक्षसुखको कैसे प्राप्त करूँ?' ऐसी भावनावाला पात्र जीव आगे उपाय खोजकर उसका प्रवर्तन करता है।

त्यागी बने, साधु बने, ब्रह्मचारी हो लेकिन यहाँ-वहाँ घूमे कि मुझे बड़प्पन कैसे मिले! यह सभी संसारके सुखकी-मिथ्यात्वकी अभिलाषा है। गृहस्थ हो वह पुत्रादि बड़े होंगे फिर सुख मिलेगा इस प्रकार परमेंसे सुख लेनेकी अभिलाषा करता है, वे सभी मूढ़ है। उसे गुरु किस प्रकार समझाते हैं? यदि बगुलाको समझाया जा सके तो ऐसे अज्ञानीको समझाया जा सके ऐसा आगे दृष्टांत आयेगा। तोताको समझाया जा सकता है लेकिन बगुलाको नहीं समझाया जा सकता।

जब आत्मा स्वयं स्वतः सिद्ध ऐसे मोक्षका अभिलाषी होता है, तब वह मोक्षका उपाय खोजता है और उसे खोजकर स्वयं ही स्वयंके मोक्षका उपाय बतानेवाला बन जाता है। अरे! आत्मा! बाह्यमें कहीं भी सुख नहीं है। सुख तो आत्मामें ही है। बाह्यमें कोई सुख देनेवाला नहीं है।

यह जीव अनंत तीर्थंकरोंके समवसरणमें जाकर आया, ग्यारह अंग और नव पूर्वका अभ्यास किया लेकिन अंतरके शल्यको बाहर नहीं निकाला। परमेंसे मीठापनेकी बुद्धिको नहीं छोड़ा और सत्सुखका उपाय खोजा नहीं तो तीर्थंकरादि उसका क्या कर सकते है?

जब जीव स्वयं सत्सुखका अभिलाषी बनता है तब स्वयं ही उसका उपाय खोजता है और उस उपायमें स्वयं ही प्रवर्तन करता है। स्वयं ही स्वरूपमें स्थिर होता है। उसे अन्य कोई प्रवर्तन करा देता नहीं है। सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूपको प्राप्त करनेवाला आत्मा स्वयं ही है।

मोक्षाभिलाषी आत्मा स्वयं स्वयंको समझाते है कि 'यह मोक्षसुखका उपाय महादुर्लभ

प्रभू तन रश्मिसमूह प्रसार, बाल सूर्यसम छबि धरतार;

है, उसका हे दुरात्मन् ! तूने आज तक कोई प्रयत्न नहीं किया ! चैतन्य महासागरको देखनेका तुझे आज तक समय नहीं मिला !'

देखो ! इसमें कर्मका दोष कहीं भी लिया नहीं कि कर्मने जीवको परेशान किया। स्वयं ही कर्ता होकर परमें सुखकी अभिलाषा रखी थी और उसका उपाय कर रहा था इसलिये दुःखी हो रहा था। अब स्वयं ही कर्ता होकर आत्माके मोक्षसुखकी अभिलाषा करता है और उसका उपाय करता है इसलिये सुखी होता है। अनादिसे स्वयंका स्वाधीनपना छोड़कर स्वयं ही पराधीन होता था उसको किसीने पराधीन किया नहीं था तो अब स्वाधीन स्वयं अपनेआप होता है उसे कोई स्वाधीन बनाता नहीं है।

आठ-आठ वर्षके राजकुमार दीक्षा लेने चल पड़ते है। अहा ! क्या उनका वैराग्य ! अभी को विवाह भी नहीं हुआ संसारके सुख देखे भी नहीं फिर भी वैराग्यकी सीमा नहीं है। बाह्यकी अनुकूलता-प्रतिकूलता उसे बाधारूप नहीं है, वह जानता है कि हमारा स्वभाव ही हमें अनुकूल है और हमारी विपरीतता ही हमें प्रतिकूल है।

मोक्षसुखके लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका एक ही उपाय है। अन्य कोई उपाय नहीं–ऐसे कल्याणका अभिलाषी स्वयं स्वयंको कल्याणका उपाय बताते है और स्वयं उसमें प्रवर्तन करता है इसलिये स्वयं स्वयंका गुरु है। निजगुरु निजको समझाता है कि अरे भाई ! चार गतिके दुःखसे तेरी कमर अभी तक तूटी नहीं है। तुझे दुःख कष्टप्रद नहीं लग रहे हैं ! तेरा सुख तेरेमें है लेकिन तूंने बाह्यमेंसे सुख लेनेका प्रयत्न किया। अब वहाँसे वापिस आ जा और स्वभावका सुख प्रकट कर ! इस प्रकार स्वयंने स्वयंको हितकी प्रेरणा दी है। इसलिये स्वयं ही स्वयंका गुरु है।

इस प्रकार सुनकर शिष्य प्रश्न करता है कि महाराज ! आपने तो गुरुके उपदेशका श्रवण, गुरुकी सेवा, सत्संग आदि सब उड़ा दिया तो फिर कोई किसीकी सेवा नहीं करेगा, गुरुके पास जायेगा नहीं और गुरुकी सेवा-सत्संग आदि करेगा नहीं। ऐसा आप न कहो क्योंकि ऐसा माननेसे तो बहुत गरबडी उपस्थित होगी। अपसिद्धांत हो जायेगा। सभी स्वच्छंदी हो जायेंगे।

ऐसा बोलनेवाले शिष्यको गुरु गाथा द्वारा उत्तर देते है।

नर सुर पूर्ण सभामें व्यापा,
जिम गिरि पद्मराग मणि तापा।२८।

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥३५॥
मूर्ख न ज्ञानी थई शके, ज्ञानी मूर्ख न थाय,
निमित्तमात्र सौ अन्य तो, धर्मद्रव्यवत् थाय. ३५.

तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिको अयोग्य ऐसे अभव्य आदि जीवोंको धर्माचार्यादिक हजार उपदेश दे फिर भी वह उसे (धर्मकी) प्राप्ति करा सकते नहीं।

जिनके अंतरमें आत्मा समझनेकी चाह ही नहीं है, पात्रता नहीं है, परसे पृथक् होनेका वैराग्य नहीं है और स्वभावकी अस्तिकी रुचि नहीं उसे गुरु क्या करे? जिनके पेटमें विष हो उसे दूध पिलाये तो भी विष उतरेगा नहीं। दूध भी विष हो जायेगा वैसे जिनके अंतरमें परकी रुचि है उसे गुरु आत्माकी रुचि करा सकते नहीं।

किसी भी कार्यकी उत्पत्ति करनेके लिये स्वाभाविक गुणकी अपेक्षा होती है, अन्य किसीको अनुकूल निमित्त वह कार्य करा सकते है। जैसे तोताको पढ़ानेसे वह पढ़ता है क्योंकि उनमें ऐसी योग्यता है लेकिन किसी भी प्रकारका प्रयत्न करने पर भी बगुलाको कोई पढ़ा सकता नहीं क्योंकि उसमें ऐसा गुण नहीं है।

जैसे स्वयं गति करने पर जीव-पुद्गलको धर्मद्रव्य निमित्त होता है जैसे स्वयं स्वयंकी पात्रतासे जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप परिणमित होता है तब गुरुको निमित्त कहा जाता है। कार्य तो स्वयंके स्वाभाविक गुणके पुरुषार्थसे ही होता है निमित्तसे नहीं।

अतः स्वयं पात्रता बिना गुरुके उपदेशसे धर्म परिणमित होता नहीं अर्थात् कि अज्ञ-मूर्खको ज्ञान करा सकता नहीं और जो तत्त्वज्ञानी होता है उसे कोई अज्ञानी करा सकते नहीं। कोई अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं ऐसी बात करूँ कि जिससे ज्ञानी भी अज्ञानी हो जाय तो यह बात तीन कालमें बन सकती नहीं क्योंकि स्वयंके पुरुषार्थसे जो बात सम्यक्-श्रद्धामें बैठी हो उसे कोई करोड़ों उपाय करने पर भी बदल सकता नहीं। यहाँ तो स्वतंत्रताकी घोषणा की जा रही है, तीन कालमें कोई भी ज्ञानीके ज्ञानको अज्ञान कर सकता नहीं; अज्ञानीको ज्ञानी कर सके नहीं। स्वयंकी लायकातसे समझे और श्रद्धा करे उसे कौन रोक सकता है और स्वयंकी विपरीततासे राह रोके तो उसे भी कौन रोक सकता है? (क्रमशः) ✻

सहसपत्र कमलों पर विहरे,
नभमें मानो पल्लव प्रसरे;

अध्यात्म संदेश

(रहस्यपूर्ण चिट्ठी पर परम पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन)

निर्विकल्प-स्वानुभूति होनेका सुंदर वर्णन स्वरूपके चिन्तनमें आनंदतरंग उठती है...रोमांच होता है

नियमसारमें प्रभु कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि–

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहाव सुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिंतए णाणी।।९६।।

णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेणहए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंते णाणी।।९७।।

–ऐसे निज आत्माकी भावना करनेकी शिक्षा मुमुक्षुको दी है। और कहा है कि ऐसी भावनाके अभ्याससे मध्यस्थता होती है, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी ऐसी निजात्मभावनासे प्रकट होते हैं। सम्यग्दर्शन होनेके बादमें एवं सम्यग्दर्शन प्रकट करनेके लिये भी, ऐसी ही भावना व ऐसा चिन्तन कर्तव्य है। 'सहज शुद्धात्माकी अनुभूति जितना ही मैं हूँ, मेरे स्वयं वेदनमें आ रहा हूँ–यही मैं हूँ'–ऐसे सम्यक् चिन्तनमें सहज ही आनंदतरंगें उठती हैं और रोमांच होता है...

देखो तो सही, इसमें चैतन्यकी अनुभूतिके कितने रसका घोलन हो रहा है ! ऊपरमें जितना वर्णन किया वहाँ तक तो अभी सविकल्पदशा है। इस चिन्तनमें जो 'आनन्दतरंगें उठतीं हैं वह निर्विकल्प अनुभूतिका आनंद नहीं है परन्तु स्वभावके तरफके उल्लासका आनंद है, शांत परिणामका आनन्द है; और इसमें स्वभाव तरफके अतिशय प्रेमके कारण रोमांच हो उठता है। रोमांच अर्थात् विशेष उल्लास; स्वभावके प्रति विशेष उत्साह। जैसे संसारमें भयका या आनंदका कोई विशिष्ट खास, प्रसंग बनने पर रोमरोम उल्लसित हो जाता है उसको रोमांच हुआ कहलाता है, वैसे यहाँ स्वभावके निर्विकल्प अनुभवके खास-विशिष्ट प्रसंगमें धर्मीको आत्माके असंख्यप्रदेशमें स्वभावके अपूर्व उल्लासका रोमांच होता है। इसके बाद

कामदेव जेता जिनराजा,
करत प्रजाका आतम काजा।२९।

चैतन्यस्वभावके रसकी उग्रता होने पर ये विचार (विकल्प) भी छूट जाय, और परिणाम अन्तर्मग्न होकर केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगे, सर्व परिणाम स्वरूपमें एकाग्र होकर वर्ते, उपयोग स्वानुभवमें प्रवर्ते, इसीका नाम निर्विकल्प आनंदका अनुभव है। वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्रसम्बन्धी या नय-प्रमाणादिका कोई विचार नहीं रहता, सभी विकल्पोंका विलय हो जाता है। यहाँपर स्वरूपमें ही व्याप्य-व्यापकता है अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय एकमेक-एकाकार अभेदरूपसे अनुभवमें आते हैं। अनुभव करनेवाली पर्याय स्वरूपमें व्याप गई है, जुदी नहीं रहती। परभाव अनुभवसे बाहर रह गये, परन्तु निर्मल पर्याय तो अनुभूतिके साथमें मिल गई।

पहले, विचारदशामें ज्ञानने जिस स्वरूपको लक्षमें लिया था उसी स्वरूपमें ज्ञानका उपयोग जुड़ गया, और बीचमेंसे विकल्प निकल गया, अकेला ज्ञान रह गया, तब अतीन्द्रिय–अनुभूति हुई, परम आनंद हुआ। ऐसी अनुभूतिमें प्रतिक्रमण, सामायिक, प्रत्याख्यान आदि सभी धर्म समा जाते हैं। इस अनुभूतिको ही 'जैनशासन' कहा है; यही वीतरागमार्ग है, यही जैनधर्म है, यही श्रुतका सार है, संतोंकी तथा आगमकी यही आज्ञा है। शुद्धात्म-अनुभूतिकी अपार महिमा है, वह कहाँ तक कहें? आप स्वयं अनुभूति करे तभी इसकी खबर पड़े।

किसकी है यह बात ?–गृहस्थ सम्यग्दृष्टिकी बात है। जो अभी घर-कुटुम्ब-परिवारके बीचमें रहा है, व्यापार-धन्धा-रसोई आदिका भाव करता है और अंतरमें इन सबसे भिन्न शुद्धात्माको जानता भी है, वह जीव उद्यमपूर्वक अपने परिणामको बाहरसे खींचके, निजस्वरूपमें उपयोगको लगाता है और निर्विकल्प-अनुभव करता है इसकी यह बात है। यह अनुभव चारों गतिके जीवोंको (तिर्यच व नारकीको भी) हो सकता है। पहले जिसने सच्चा तत्त्वनिर्णय किया हो, वीतरागी देव-गुरु-धर्मकी पहिचान की हो, नव तत्त्वके बारेमें विपरीतता दूर की हो, अपनी पर्यायमें आस्रव-बन्धरूप विकार है, शुद्ध द्रव्यके आश्रयसे वह मिट जाता है और शुद्धात्मानुभूति होके संवर-निर्जरारूप शुद्धदशा प्रकट होती है,–ऐसे अनेकान्त द्वारा द्रव्य-पर्यायकी सभी विवक्षाके ज्ञानपूर्वक शुद्ध अनुभव होता है। अन्यमति लोग जिस शुद्ध अनुभवकी बात कहते हैं उसमें, और जैनके शुद्धअनुभवमें बहुत बड़ा अंतर है; अन्य लोग तो पर्यायमें पहले अशुद्धता थी और वह टलके शुद्ध पर्याय हुई–इसका स्वीकार किये बिना एकान्त शुद्ध-शुद्धकी बातें करते हैं, परन्तु ऐसा (-शुद्धपर्यायसे रहित) शुद्ध अनुभव नहीं होता। जैनोंका शुद्धअनुभव तो शुद्ध-पर्यायके स्वीकारके साथ है। पहले अशुद्धता थी वह मिटके शुद्धपर्याय हुई–इसका यदि स्वीकार न किया जाय तो शुद्धताका अनुभव किया

तुम ऋषि गुणसागर गुण लव भी,
कथन न समरथ इन्द्र कभी भी;

किसने ?–और उस अनुभवका फल किसमें आया ? द्रव्य और पर्याय इन दोनोंके स्वीकाररूप अनेकान्तके बिना अनुभव, अनुभवका फल यह कुछ भी नहीं बन सकता। पर्याय अन्तर्मुख होकरके जब शुद्धस्वभावका आराधन-सेवन-ध्यान करे तभी शुद्धअनुभव होता है।

यह शुद्धअनुभव अर्थात् निर्विकल्प अनुभव कैसी चीज है और कैसी यह अन्तरंगदशा है !–यह जिज्ञासुओंको लक्षगत करना चाहिये। अहा, निर्विकल्प अनुभवका पूरा कथन करनेकी वाणीमें ताकत नहीं; ज्ञानमें इसको जाननेकी ताकत है, अन्तरके वेदनमें भी आता है, परन्तु वाणीमें उसका पूरा कथन नहीं आता; ज्ञानीकी वाणीमें उसका इशारा आता है। अरे, जो विकल्पको भी गम्य नहीं हो सकता ऐसा निर्विकल्प अनुभव वाणीके द्वारा कैसे गम्य हो जाय ? वह तो स्वानुभवगम्य है। एक सज्जन शक्करका मीठा स्वाद ले रहा हो, वहाँ कोई दूसरा मनुष्य जिज्ञासापूर्वक उस शक्कर खानेवालेको देखे, या उसके पास शक्करके मीठे स्वादका वर्णन सुने, तो इतनेसे उसके मुँहमें शक्करका स्वाद नहीं आ जाता; वह स्वयं शक्करकी डली लेकर अपने मुँहमें रखकर चूसे (आस्वादे) तभी उसको शक्करके मीठे स्वादका अनुभव होता है वैसे कोई 'सज्जन' अर्थात् संत धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प-स्वानुभवमें अतीन्द्रिय आनंदका मीठा स्वाद ले रहा हो, वहाँ दूसरा जीव जिज्ञासापूर्वक उस अनुभवी धर्मात्माको देखे, या उसके पास प्रेमपूर्वक उस अनुभवका वर्णन सुने, तो इतनेसे उसको निर्विकल्प अनुभूतिका स्वाद नहीं आ जाता; वह जीव स्वयं अपने शुद्धात्माको लक्षमें लेकर, उसे ही मुख्य करके, जब अन्तर्मुख उपयोगके द्वारा स्वानुभव करे तभी उसको शुद्धात्माके निर्विकल्प अनुभवके अतीन्द्रिय आनंदका मीठा स्वाद वेदनमें आता है।

—ऐसा स्वानुभव होने पर सम्यग्दृष्टि जानता है कि अहो ! मेरी वस्तु मुझे प्राप्त हुई। मेरेमें ही विद्यमान मेरी वस्तुको मैं भूल गया था वह धर्मात्मागुरुओंके प्रसादसे मुझे प्राप्त हुई। अपनी वस्तु अपनेमें ही है, वह निजध्यानसे प्राप्त होती है, बाहरके कोई रागादिभावसे वह प्राप्त नहीं होती अर्थात् अनुभवमें नहीं आती। सविकल्पके द्वारा निर्विकल्पमें आया ऐसा उपचारसे कहा जाता है। स्वरूपके अनुभवका उद्यम करनेमें प्रथम उसकी सविकल्प विचारधारा चलती है, उसमें सूक्ष्म राग व विकल्प भी नहीं होते हैं, परन्तु उस रागको या विकल्पको साधन बनाकर स्वानुभवमें नहीं पहुँचा जाता, रागका विकल्पोंका उल्लंघन करके, सीधा आत्मस्वभावका अवलम्बन लेकर उसे ही साधन बनावें तभी आत्माका निर्विकल्प स्वानुभव होता है; और तभी जीव कृतकृत्य होता है। शास्त्रोंने इसका अपार माहात्म्य किया है । सविकल्पमेंसे निर्विकल्प अनुभव होनेकी जो बात की इसके सम्बन्धमें अब शास्त्राधार देकर स्पष्टीकरण करते हैं।

(क्रमशः) ✻

अनुभवप्रकाश पर प्रवचन

(गतांकसे आगे)

यह मिश्रधर्मका अधिकार है। आत्माका ज्ञान और दर्शनरूपी चेतना स्वभाव है; उसमें लीनता करके जब तक केवलज्ञान दशा न हो तब तक मिश्रधर्म है—ऐसा कहते हैं। केवलज्ञानमें कर्मधारा नहीं है, मात्र ज्ञानधारा हैं और जो दया–दानसे धर्म मानें तथा शरीरकी क्रियासे धर्म मानें ऐसे मिथ्यादृष्टिको मात्र कर्मधारा है; वहाँ मिश्रधारा नहीं है। चौथेसे बारहवें गुणस्थान तक मिश्रधर्म है, उसकी बात करते हैं।

मैं आत्मा अखण्डानन्द हूँ—ऐसी श्रद्धा एवं स्थिरता की, उतनी ज्ञानधारा है और जितना राग शेष रहा उतनी रागधारा है। आत्माके अवलम्बनसे आनन्दधारा होती है, परन्तु साधकको ज्ञानचेतना पूर्ण नहीं हुई है इतना रागभाव शेष है। चौथे, पाँचवें, छठवें आदि गुणस्थानवाले जीवोंको गुणकी अपूर्णता है इतना मिश्रभाव है, परन्तु मुख्य श्रद्धाभाव है। मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ, एक रजकणका कर्ता–भोक्ता नहीं हूँ तथा रागादिका वास्तवमें कर्ता–भोक्ता नहीं हूँ, ऐसे श्रद्धा भावमें आनन्द है और ऐसी श्रद्धा होने पर भी केवलज्ञान न हो तब तक रागादि परिणाम होते हैं परन्तु वे गौण वर्तते हैं। रागादि हेयभावसे वर्तते हैं उनको व्यवहार मानकर वे मेरे स्वरूपमें नहीं हैं ऐसा कहा है।

श्री नियमसारकी टीकामें पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि—''मैं स्वर्गमें होऊँ अथवा चाहे जहाँ होऊँ तो हे प्रभु ! तेरे चरणकमलमें रहूँ'' उसका अर्थ ऐसा है कि—पुद्गलपरावर्तनके नियमानुसार बाहरकी चाहे जो अवस्था हो, मैं स्वर्गमें होऊँ या अन्यत्र जड़के चाहे जिस संयोगमें होऊँ, परन्तु उस समय मैं चिदानन्द आत्माकी दृष्टि बनाए रहूँ—यह मेरी भावना है और यही तेरी भक्ति है। नरकमें होऊँ तब भी उस समय नरकके क्षेत्र, भव और अल्प राग जो वर्तते हों उनकी रुचि न रहकर मैं ज्ञानस्वभावी हूँ ऐसी श्रद्धा हुई है वह नित्य रहना। मुनिको नरकपर्याय नहीं होती परन्तु संयोगदृष्टि उड़ाते हैं। मैं संयोगमें नहीं हूँ, मैं शुद्धस्वभावी हूँ; इसप्रकार स्वभावकी मुख्यताका ध्येय होनेसे संयोग एवं पर्यायमें होनेवाले रागादिभाव गौण हैं, उनका आदर नहीं है। हे नाथ ! संयोग तो नहीं, परन्तु जो विकल्प उठते

हूं बालक कैसे गुण गाऊँ,
गाढ भक्तिसे कुछ कह जाऊँ ।३०।

हैं, उनको गौण करता हूँ, उनका आदर नहीं करता परन्तु स्वभावका आदर करता हूँ—इसे साधककी मिश्रदशा कहते हैं।

किसी समय यदि रागकी मुख्यता हो जाए और अखण्डस्वभावकी मुख्यता न रहे तो उस जीवको मिश्रधर्म नहीं रहता और मिथ्यादृष्टि हो जाता है। शरीरादिकी अवस्था उसके कारण होती है। जो कुछ भी अशक्तिके कारण पुण्य–पापके परिणाम होते हैं उनको धर्मी मुख्य नहीं करते, परन्तु स्वभावको मुख्य करते हैं।

मैं अखण्ड चैतन्यस्वभावी हूँ—ऐसी पूर्णदशा पर्यायमें प्रकट नहीं हुई है किन्तु चेतनामें अपूर्ण दशा रही है, इसलिए उसे मिश्रभाव कहते हैं। यहाँ कर्मकी बात नहीं है। आत्मा और कर्म साथ हैं—ऐसी मिश्रकी बात नहीं है। कर्म तो जड़ है, पर है, उसके साथ आत्माका मिश्रपना नहीं हो सकता। अंतरात्मा बारहवें गुणस्थान तक होता है, सर्वज्ञता प्रकट नहीं हुई तब तक अखण्ड धारा अथवा पूर्ण आत्मा नहीं है। अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान नहीं किन्तु अपूर्ण ज्ञान समझना। बारहवें गुणस्थानमें ज्ञान रुका हुआ है वह कर्मचेतना है। ज्ञानचेतना पूर्ण नहीं हुई है, इसलिए वहाँ मिश्रधारा है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप है, निमित्त और विकारको गौण करके शुद्ध चैतन्यकी प्रतीति की तथापि पर्यायमें दया–दानादिके परिणाम हुए बिना नहीं रहते। राग और अल्पज्ञता है तब तक कार्य अपूर्ण है। अंतरमें स्थिरता होकर ज्ञान हुआ उतनी ज्ञानधारा है। आत्मा अनन्त गुणके सामर्थ्यसे परिपूर्ण है—ऐसी प्रतीति हुई वह मुक्तिका कारण है, परन्तु जो रागादि परिणाम होते हैं वे मुक्तिका कारण नहीं हैं। ज्ञान ज्ञानमें पूर्णरूपसे स्थिर हुआ नहीं और रागादि मलिन परिणाममें लगा हुआ है वहाँ मलिनता बंधका कारण है। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ—ऐसी प्रतीति और ज्ञान मुक्तिका कारण है। वह भव बाधा मिटानेका कारण है। भव बाधा मिटानेका सामर्थ्य आत्माकी यथार्थ प्रतीतिमें है। आत्मा परमात्मा है ऐसी प्रतीतिका होना वह मुक्तिका कारण है। बीचमें जो दया–दानादिकी वृत्तियाँ आए वह मलिनभाव है। उसे हटानेका सामर्थ्य श्रद्धामें है।

स्वयं परमात्मा न हो जाए तब तक अल्पज्ञता और राग–द्वेष वर्तते हैं, तब तक कर्मधारा है। आत्माकी प्रतीति होने पर भी रागादि परिणाम तथा अल्पज्ञता दूर करनेकी शक्ति मिश्रधारामें नहीं है। वहाँ कोई कर्मका कारण नहीं है। राग–द्वेष और अल्पज्ञता कर्मधारा है। धर्मीजीवकी धर्मदशा शुद्ध चिदानन्दकी प्रतीतिमें वर्तती है। पर्यायमें पूर्ण निर्मलता नहीं हुई है, अनिर्मलता

श्री सुपार्श्वनाथ जिन-स्तुति	जय सुपार्श्व भगवन् हित भाषा, क्षणिक भोगकी तज अभिलाषा;

वर्तती है, उसे अंतरात्मा अभी हटा नहीं सकता। पुरुषार्थ निर्बल है; यदि पुरुषार्थ बढ़ जाए तो वीतरागता एवं सर्वज्ञता प्रकट हुए बिना नहीं रहे। साधक जीवने प्रतीति तो बराबर की है। मेरी वस्तु चैतन्यज्योति है, दूसरी नहीं है। —ऐसा धर्मीने निर्णय कर लिया है। अंतरमें रागादि परिणाम हों वह अपराध है परन्तु त्रैकालिक स्वरूप नहीं है।

धर्मी जीवने प्रतीतिमें स्वरूपको बराबर समझा है, परन्तु अभी राग शेष है। पर्यायमें राग शेष नहीं है अथवा अल्पज्ञता बिलकुल नहीं है—ऐसा मिथ्याज्ञान करे तो वह व्यवहारका मिथ्याज्ञान किया कहा जाएँगा, तब वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। राग एवं अल्पज्ञता बाकी रहती है उसे आदरणीय माने और उससे निश्चय प्रकट होगा ऐसा माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि हो जाती है। आत्माकी प्रतीति हुई वह निश्चय है और जितना राग एवं अल्पज्ञता वर्तती है उसे जानना वह व्यवहार है।

श्री समयसार गाथा १२वीं की टीकामें कहा है कि—यदि निश्चयको छोड़ोगे तो तत्त्वका नाश हो जाएँगा और यदि व्यवहारका ज्ञान नहीं करोगे अर्थात् किस भूमिकामें कितना राग वर्तता है उसका ज्ञान नहीं करोगे तो मिथ्यादृष्टि हो जाओगे। जो अल्पज्ञतामें सर्वज्ञता माने और रागमें वीतरागता माने उसने तीर्थपना छोड़ दिया है। उसने व्यवहारको छोड़ा है। व्यवहारनय छोड़ना नहीं उसका अर्थ यह नहीं है कि शरीरादि परपदार्थोंकी क्रिया नहीं छोड़ना। पर पदार्थोंकी बात ही नहीं है। आत्मा पर पदार्थोंकी क्रिया कर नहीं सकता तथा छोड़ नहीं सकता। स्वरूपमें सम्पूर्ण स्थिर नहीं हुआ तब तक राग–द्वेषादिके परिणाम एवं अल्पज्ञता वर्तती है। चौथी, पाँचवीं, छठवीं आदि भूमिकामें जो–जो रागादि परिणाम वर्तते हैं उनको जानना वह व्यवहारनय है, उनको यथार्थ न जाने तो व्यवहारको उड़ा दिया कहा जाता है।

मैं ज्ञायक हूँ—ऐसी प्रतीति करके स्वरूपकी श्रद्धा की, परन्तु राग अनेक प्रकारका होता है और अनेक प्रकारकी ज्ञानकी तारतम्यता होती है उसे जानना वह व्यवहार है। पर्यायमें अशक्ति है—राग है उसे जानना वह व्यवहार है। उस व्यवहारको छोड़ना नहीं तथापि व्यवहार आदरणीय नहीं है । ग्यारहवीं गाथामें व्यवहारको अभूतार्थ कहा था, इसलिए बारहवीं गाथामें स्पष्टीकरण किया कि व्यवहारको अभूतार्थ कहा, परन्तु जानने जैसा है अवश्य। जानने जैसा नहीं है—ऐसा नहीं है। पर्यायका ज्ञान करके, स्वभावमें संसार नहीं है ऐसी दृष्टि करके लीनता करना वह धर्म है। इसप्रकार निर्णय बराबर किया होने पर भी पर्यायमें अल्पज्ञान है, अल्पदर्शन है, अल्पचारित्र है, अल्पवीर्य है, अल्पआनन्द है—ऐसा पर्यायका यथार्थ ज्ञान करना चाहिए, वह व्यवहार है। (क्रमशः) ✻

तप्त शांत नहि तृष्णा बधती,
स्वस्थ रहे नित मनसा सधती ।३१।

मुक्तिका मार्ग

(सत्तास्वरूप पर पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन) (प्रवचन : ४)

रोग और वैद्य दोनोंको पहचानो

इच्छा ही रोग है; इच्छा उसीके होती है जिसको कोई दुःख हो, उस दुःखसे छूटनेके लिए उसके इच्छा होती है। इसलिए जो इच्छा करता है वह दुःखी है। इच्छा नामका रोग अनादिकालसे जीवके साथ लगा हुआ है। आत्माके जो पर वस्तुकी इच्छा है सो रोग है। जैसे किसीके मृगीका रोग हो और वह बहुत समयसे गलत उपचार कर करके थक गया हो किन्तु जब वह उस उपायको गलत जानले तब सच्चा उपाय करता है।

प्रश्न :—हमारे उपाय तो सत्य ही हैं, हम सुखके लिए धन प्राप्त करनेका उपाय करते हैं और धन मिलता है तो फिर हमारे उपाय गलत कैसे कहलायेंगे ?

उत्तर :—इच्छाके दुःखको दूर करनेके लिए यह उपाय बिलकुल गलत है। धन मिला कि दूसरी इच्छा आकर खड़ी हो गई। रुपया मिला, बड़प्पन मिला और स्त्री पुत्र मिले, किन्तु जहाँ मरणका समय आया वहाँ जीवनकी इच्छाका दुःख होता है, लेकिन जब आयु ही पूर्ण हो गई तब वहाँ धन इत्यादिक कोई भी सहायक नहीं हो सकता और यह जीव अपनी पहचानके बिना ममतासे मरकर चींटी, कौआ, बन्दर इत्यादिमें जन्म लेता है। देख तो सही तेरा कौनसा उपाय सच्चा है ? परवस्तुकी इच्छा ही रोग है। अपने सुखके लिए परवस्तुकी इच्छा की, इसका अर्थ यह हुआ कि उसने अपनेको शक्तिहीन सुखहीन मान लिया। उसे यह भान नहीं है कि सुख आत्मामें ही है, इसलिए आत्माके अतिरिक्त परवस्तुको ग्रहण करनेका भावरूपी इच्छाका रोग अनादिकालसे लगा हुआ है। अनन्त उपाय करने पर भी वह रोग अभी तक नहीं मिटा और इच्छाका दुःख तो हो ही रहा है इससे सिद्ध हुआ कि वह उपाय ही गलत है। सुखके लिए परवस्तुकी इच्छा यह सुखका सच्चा उपाय नहीं है।

कंपवायुका रोगी जब यह जान ले कि रोग मिटानेके लिए पूर्वकृत सभी उपाय गलत हैं। मेरा शरीर वायुके रोगसे काँप रहा है और यह भी जान ले कि वायुरोगका अच्छा वैद्य कौन है ? जो नाड़ी–विशेषज्ञ हो, रोगीकी शक्ल देख करके ही रोगके स्वरूपको समझ ले, ऐसे वैद्यके पास पहुँचकर उसकी औषधि ले तो वह अच्छा हो जाय। कोई-कोई वैद्य अच्छे विशेषज्ञ होते हैं। एक वैद्य ऐसे निपुण थे कि उन्होंने एक महिला—जो पानीका घड़ा सिर पर रखे हुए चली आ रही थी, उसकी सूरतको देखकर ही जान लिया कि इस महिलाको अमुक रोग है, जिससे

जिम	जड	यंत्र	पुरुषसे	चलता,
तिम	यह	देह	जीवधृत	पलता;

वह घर नहीं पहुँच पायेगी और अभी रास्तेमें ही मर जायेगी। इसलिए उन्होंने अपने साथीसे कहा कि इसके सिर परसे घड़ा उतार लो। साथी घड़ा उतारनेके लिए आगे ही बढ़ा था कि वह महिला अकस्मात् धरती पर गिर पड़ी और वहीं मर गई। जिसे इस प्रकार स्वाश्रयी ज्ञान हो और जो यह भली भाँति जानता हो कि रोग क्या है ? निरोग क्या है ? औषधि क्या है ? और पथ्य क्या है ? वही सच्चा वैद्य है।

यहाँ पर उक्त दृष्टांतमें भी ऐसे वैद्यको ग्रहण नहीं किया है, जो रोगीके आने पर पुस्तकमें रोगका नाम देखकर उसके रोगको जानने बैठे, किन्तु यहाँ स्वाश्रित जानकर वैद्यसे मतलब है। साथ ही यहाँ पर उस रोगीको लिया है जिसे अपना रोग मालूम हो गया हो और अपने किये गये उपायोंको जो गलत मान रहा हो तथा जिसे वैद्यके प्रति सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो गई हो, और अपने जैसे जिस रोगीका रोग दूर हो गया है उसके चेहरेको देखकर जिसे उत्साह उत्पन्न हो गया हो कि जैसे इसका रोग दूर हो गया है उसीप्रकार मेरा भी रोग दूर हो जायगा, और जिसे यह भी निश्चय हो गया हो कि इस वैद्यको भी पहले मेरे जैसा ही वायुका रोग था जिसे मिटाकर वैद्य स्वयं निरोग हुआ है, इसलिए इसके बताये गये उपायसे मेरा भी रोग दूर हो जायगा। इसप्रकार की श्रद्धासे वैद्यके पास आता है उसका रोग अवश्य दूर होता है। बिना वैद्यके रोगका दुःख दूर नहीं होगा। इसलिए रोगको व सच्चे वैद्यको (देव-गुरुको) पहचानना चाहिए।

आत्मा अखण्ड, अकंप, स्थिरस्वरूप है, उस अकंपस्वरूपको भूलकर परवस्तुकी इच्छारूपी कंपवायु हो जाती है, इस आत्माको वह इच्छारूपी वायुरोग अनादिकालसे लगा हुआ है, उस रोगको दूर करनेवाला वैद्य अर्थात् सच्चा गुरु कौन है ? वह उसके लक्षणोंसे ठीक ठीक जान लेना चाहिए। क्योंकि 'अजान वैद्य यमके समान' कहा गया है। इसलिए जब तक सच्चे वैद्यका (यहाँ पर वैद्यके स्थान पर देव-गुरु समझना चाहिए) सुयोग न मिले तब तक यही अच्छा है कि औषधि ही न ली जाय। क्योंकि कुवैद्यकी औषधि लेनेसे उलटा दुःख बढ़ जाता है। सच्ची औषधी न मिले, इसलिए कहीं विष नहीं ले लिया जाता। सच्चा उपाय न मिले, इसलिए विपरीत उपाय नहीं किया जाता। इस जीवको जिसका लक्षण आकुलता है ऐसा अज्ञानजनित इच्छा नामका रोग अनादिकालसे सदा बना हुआ है। हाँ, कभी-कभी आकुलता कम हो जाती है तो कभी-कभी बढ़ जाती है, किन्तु अज्ञानजनित इच्छा नामका रोग व दुःख तो सदा एकसा बना ही रहता है।

यदि किसी भव्य (योग्य) जीवको ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे और पुरुषार्थ करनेके लिए उद्यत होनेसे यह ज्ञात हो जाय कि ''इन परविषयोंके सेवनसे मुझे शांति नहीं मिली और

(शेष देखे पृष्ठ ३१ पर)

अशुचि दुखद दुर्गंध कुरूपी,
यामें राग कहा दुखरूपी ।३२।

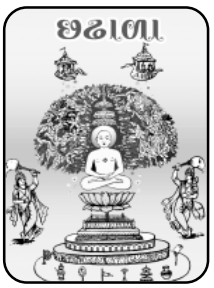

श्री छहढाला पर पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन

(तीसरी ढाल, गाथा-१)

आत्माके हितरूप मोक्षमार्गका वर्णन

हे जीव ! तू मोक्षपथमें चल

अब कहते हैं कि ऐसा मोक्षका मार्ग है उसे दो प्रकारसे विचार करना–एक सत्यार्थरूप अर्थात् वास्तविक मोक्षमार्ग है, वह तो निश्चयसे मोक्षमार्ग है; और उसका जो कारण है,–वास्तविक कारण नहीं लेकिन उपचार कारण है–वह व्यवहार है। निमित्तकारण कि जो वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं लेकिन उपचारसे उसे मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है; वह सत्यार्थ नहीं किन्तु असत्यार्थ है–अभूतार्थ है। यथार्थ मोक्षमार्गको मोक्षमार्ग कहना वह सत्यार्थ है, वह निश्चय है।

यहाँ सत्यार्थको ही निश्चय कहा उसके ऊपर जोर है। निश्चयको सत्यार्थ कहा अर्थात् व्यवहार वह असत्यार्थ है–ऐसा भी उसमें आ ही गया। निर्विकल्प शुद्ध आत्माके आश्रयसे जो रत्नत्रयरूप शुद्ध परिणति हुई वह मोक्षमार्ग है, –ऐसा विचार करना। अंशे शुद्धता वह पूर्ण शुद्धताका कारण है; उसमें तो कारण और कार्यकी एक जाति है इसलिये वह निश्चयसे कारण है, लेकिन उसके साथ जो अशुद्धता है (शुभराग) है वह कोई शुद्धताका यथार्थ कारण नहीं है; लेकिन शुद्धताके साथ भूमिका अनुसार देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धा, नव तत्त्वका ज्ञान या पंचमहाव्रतादि सम्बन्धी विकल्प होते है उसे भी मोक्षमार्गका 'सहकारी' जानकर (–अर्थात् कि वह मोक्षमार्ग नहीं लेकिन मोक्षमार्गमें साथमें रहनेवाला है–ऐसा सहकारी जानकर) उपचारसे उसे भी मोक्षमार्ग कहा जाता है, लेकिन वह कोई सत्यार्थ मोक्षमार्ग नहीं है; अर्थात् उसे व्यवहार कहा, गौण कहा और असत्यार्थ कहा, वह अशुद्ध है, पराश्रित है और शुद्ध आत्माके आश्रयसे राग रहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है वह निश्चय है, मुख्य है, सत्यार्थ है, शुद्ध है और स्वाश्रित है। इस प्रकार 'दुविध' मार्ग कहा उसमें एक ही सत्यार्थ है–'जो सत्यारथरूप सो निश्चय' एक निश्चय मोक्षमार्ग वह ही यथार्थ है–इस प्रकार मोक्षमार्गका स्वरूपका विचार करे तो वह विचार सत्य है। लेकिन व्यवहारको

यह	भवितव्य	अटल	बलधारी,
होय	अशक्त	अहं	मतिकारी;

ही वास्तविक मोक्षमार्ग समझकर उसमें ठहर जाय और निश्चय मोक्षमार्गको पहिचाने नहीं तो उसे मोक्षमार्गका विचार भी यथार्थ नहीं है; वह तो बंधके मार्गको ही मोक्षमार्ग मानकर उसका ही सेवन कर रहा है।

निश्चय मोक्षमार्ग वह ही यथार्थ मोक्षमार्ग है। निश्चय अर्थात् शुद्ध आत्मामें रुचि-ज्ञान-एकाग्रता वह यथार्थ वास्तविक शुद्ध उपादानसे प्रकट हुआ सत्य मोक्षमार्ग है; वह नियमसे मोक्षमार्ग है, उसके सेवनसे अवश्य मोक्ष होता है ऐसा नियम है। और उसके कारणरूप (अर्थात् निमित्तकारणरूप) वह व्यवहार है। यह दोनों कारणोंको यथार्थरूपसे जानना चाहिये। दोनोंको 'जानना' चाहिये, लेकिन दोनोंको जानकर आदर करने योग्य तो एक निश्चय-सत्यार्थ मार्ग ही है–ऐसा जाने तभी दोनोंका यथार्थ ज्ञान होता है।

स्वभावके आश्रयसे शुद्धरत्नत्रय द्वारा मोक्षको साधनेवाले साधकको उस भूमिकामें व्यवहार कैसा होता है, देव-गुरु-शास्त्र तथा नव तत्त्व आदिकी पहिचान कैसी होती है उसे यथार्थ जानना चाहिये; उसमें विपरीत मानकर जो गोलमगोल करे उसने यथार्थ मोक्षमार्गको जाना नहीं। परसे विभक्त और स्वभावसे एकत्व ऐसे शुद्ध आत्माके आश्रयसे प्रकट हुई जो रत्नत्रयरूप, निर्मल पर्याय वह निश्चय मोक्षमार्ग है। उसके साथ जो व्यवहार रत्नत्रय है वह वास्तवमें मार्ग नहीं है लेकिन निमित्तके रूपमें उसे मोक्षमार्गका नाम मिलता है, वह व्यवहार है, वह असत्यार्थ है—ऐसा जानना। उस समयकी शुद्धताको मोक्षमार्ग जानना वह अनुपचार है (सत्य है), और उस समय शुभरागको मोक्षमार्ग कहना वह उपचार है (असत्य है)। मोक्षमार्गी जीवको भूमिका अनुसार दोनों प्रकार होते है, उसे बतानेके लिये 'द्विविध' कहा है; उसमें मोक्षका यथार्थ कारण एक ही है, दो नहीं। साधकको निश्चय सम्यक्त्वके साथका वीतरागी देव-गुरु-शास्त्रकी पूजा आदिका शुभ विकल्प, वह बंधका कारण होने पर भी आरोपसे उसे भी मोक्षमार्ग कहा जाता है; क्योंकि मोक्षमार्गके निमित्तका ज्ञान कराने हेतु उसे व्यवहार कहा है।

व्यवहार वह कारण,–लेकिन किसका ? कि निश्चय मोक्षमार्गका; अर्थात् कि वहाँ यथार्थ मोक्षमार्ग वर्तता है उसका कारण उपचारसे है; लेकिन जहाँ सच्चा मोक्षमार्ग है ही नहीं वहाँ पर कारण किसको कहना ? निश्चयका तो लक्ष न हो और अकेले व्यवहारका सेवन करते करते उससे मोक्षमार्ग प्रकट हो जाय ऐसा बनता नहीं है। इसलिये मोक्षार्थी जीवोंको

दो कारण विन कार्य न राचा,
केवल यतन विफल मत राचा।३३।

सत्य मोक्षमार्गको यथार्थरूपसे पहिचान कर उसका उद्यम करना चाहिये।

आत्माका पूर्ण आनंद वह मोक्ष; उसकी प्राप्तिका उपाय वह मोक्षमार्ग; मोक्षका मार्ग, मोक्षका उपाय, मोक्षका कारण, मोक्षका उद्यम, मोक्षकी क्रिया अथवा मोक्षकी आराधना यह सभी एक ही है; और वह ही धर्म है। आत्माकी श्रद्धा-ज्ञान-लीनतारूप अंतर्मुख शुद्धभाव द्वारा उसकी साधना होती है और शुभभाव वह तो बहिर्मुख वृत्तियाँ है, उनके द्वारा मोक्षकी साधना होती नहीं है। निश्चय मोक्षमार्ग स्वाश्रितभावसे वीतराग प्रकट होता है; और वह निश्चय सहितके व्यवहारको उपचारकारण कहा जाता है। निश्चय वह मुख्य है, वह सत्य है; व्यवहार वह आरोपित है, गौण है। परिणति अंतरकी ओर ढले और ज्ञायकस्वभावमें उतरकर लीन हो उसें अतीन्द्रिय सुखका वेदन है, वह यथार्थ-परमार्थ-निश्चय मोक्षमार्ग है और वह ही शुद्धमार्ग है। ऐसे मार्ग पर चलकर तीर्थंकरादि महापुरुषों मोक्षसुखको प्राप्त हुए है; और मुमुक्षुओंको भी यह ही मार्ग दिखलाया है।

मिथ्यादृष्टिको निश्चय अथवा व्यवहार एक भी नय यथार्थ होता नहीं है, क्योंकि नय तो सत्य ज्ञानका प्रकार है। शुद्ध आत्माके ज्ञान बिना प्रमाणज्ञान होता नहीं अर्थात् भावश्रुत होता नहीं है; और भावश्रुतप्रमाण बिना निश्चय या व्यवहारनय होता नहीं है। आत्माका अनुभव होने पर मति-श्रुत दोनों ज्ञान एक साथ सम्यक्रूप परिणमित होते है, उसमेंसे श्रुतज्ञानमें अनंत प्रकारके नय होते है। नय वह सत्य श्रुतज्ञानका प्रकार है। लेकिन ज्ञान ही जिसका मिथ्या हो उसे नय कैसे ? अर्थात् मिथ्यादृष्टि जिसे व्यवहाररूपमें सेवन करता है वह तो वास्तवमें मोक्षमार्गका व्यवहार भी नहीं है। निश्चय बिना व्यवहार तो मिथ्या है। शुद्ध आत्मा जैसा है उसे जानकर प्रतीतमें लिया तभी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ। चारित्रका अंश भी उसके साथ प्रकट हो गया अर्थात् मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो गया। उस जीवको यथार्थ निश्चय-व्यवहार होता है। प्रथम मात्र व्यवहार होता है और उसको करते करते निश्चय प्रकट होता है ऐसा नहीं है। उपयोगस्वरूप शुद्ध आत्माके अवलम्बनसे जो शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रकट हुआ वह शुद्ध मोक्षमार्ग है, और उसके साथ जो रागादि है वह अशुद्ध है, उसे मोक्षमार्गका कारण कहना वह उपचार है।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यधातु, उसने अनंत आनंदको स्वयंमें धारण किया है, वह चैतन्यसमुद्रमें गोता लगाने पर मोक्षके आनंदका अनुभव होता है। ऐसे आनंदका अनुभव

डरत मृत्युसे तदपि टलत ना,
नित हित चाहे तदपि लभत ना;

हो तभी मोक्षमार्ग प्रकट हुआ कहा जाता है। आत्मा तो रत्नोंका बड़ा पहाड़ है; उसे खोदने पर (अर्थात् अनुभवमें लेनेपर) उसमेंसे महान रत्नों ही निकलते है। अनंत आनंदमय रत्न उसमें भरे पड़े है।

– जगतके जड़रत्नोंका तो धर्ममें कोई मूल्य नहीं है।

– अब आत्मामें मोक्षके कारणरूप तीन रत्न—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र।

– उसका फल केवलज्ञानादि चतुष्टय–वह महारत्न।

– अनंती केवलज्ञानपर्यायरूप परिणमित होनेका जिसमें सामर्थ्य–ऐसा ज्ञानगुण वह महा-रत्न है।

– और अनंत गुणरत्नोंसे परिपूर्ण चैतन्यसमुद्र वह तो महा-महा-महारत्न।

भाई, ऐसे रत्नोंका ही पूर्ण पहाड़ तू है...तेरे मति-श्रुतज्ञानको अंतरमें लगाकर इस चैतन्यरत्नके पर्वतको तू देख। स्वयं आनंदका विशाल पर्वत, लेकिन दृष्टिदोषके कारण उसे दिखाई नहीं दे रहा है। जैसे सामने ही बड़ा रत्नका पर्वत हो लेकिन जिसकी आँखकी आडमें पर्ण है उसे वह पर्वत दिखाई नहीं देता, वैसे जीव स्वयं अनंता गुण-रत्नोंका बड़ा पर्वत है, लेकिन रागमें एकत्वभावनारूप जो पर्ण अर्थात् कि मिथ्यात्वका तुच्छभाव, उसकी ओथके कारण अज्ञानी जीव स्वयंके चैतन्यभावरूप विशाल पर्वतको देख सकता नहीं है। संतों वीतराग विज्ञानके उपदेश द्वारा उसका भ्रम मिटाकर उसे वास्तविक स्वरूप दिखाते है कि जिसकी महिमा मेरुपर्वतसे भी महान है। अरिहंतोंने केवलज्ञान प्रकट किया वह कहाँसे आया?–क्या बाहरसे आया ? नहीं; भीतर आत्मामें था वह ही प्रकट हुआ है। वैसे प्रत्येक आत्मा अरिहंत भगवानके समान ही सामर्थ्यवाला है—आचार्यदेव कहते है कि ऐसे तेरे आत्माको तू पहिचान। (क्रमशः) ✻

(पृष्ठ ७ का शेष भाग) (प्रवचनसार प्रवचन)

रखता है, असहाय है। जीवमें ज्ञानको शुभराग एक समयमें साथमें होने पर भी और दोनों एक ही द्रव्यकी पर्याय होने पर भी शुभराग ज्ञानको मदद करता नहीं है। तो फिर बाह्य संयोग जीवको मदद करे या सुख दे ऐसा मानना तद्दन मिथ्या है। जो जीव रागसे लाभ मानता है, इन्द्रियज्ञानसे लाभ माने या पूर्व पर्यायसे लाभ माने वह उसके साथ एकत्वबुद्धि किये बिना लाभ मान सकता नहीं। अज्ञानी जीव संयोग तथा पर्यायसे देखता है वह उसकी पर्यायदृष्टि है, इसलिये चैतन्य ध्रुव स्वभावको आदरणीय मानना वह द्रव्यदृष्टि है और वह द्रव्यदृष्टि द्वारा ध्रुवस्वभावके आश्रयसे केवलज्ञान प्रकट होता है। (क्रमशः) ✻

जीवकी इच्छा अनुसार ही सबकुछ कब होगा ? और उसका दुःख कब नाश होगा ?

संसारी जीव अपनी इच्छा अनुसार पर वस्तुके कार्य हो ऐसा चाहता है, लेकिन उसकी इच्छानुसार परवस्तुके कार्य होते नहीं हैं। इसलिये वह आकुल-व्याकुल होकर दुःखी होता है। यदि आकुल-व्याकुलपना नाश हो तो दुःखका नाश हो, लेकिन उसका दुःख कब नाश हो ? जब तक परवस्तुको पलटनेकी इच्छा है तब तक तो आकुल-व्याकुलताका नाश है ही नहीं। लेकिन परवस्तुसे मैं पृथक् हूँ, परके कार्य मेरे आधीन नहीं, लेकिन मैं तो सहज ज्ञानरूपी साम्राज्य द्वारा सभीको जाननेवाला हूँ—ऐसा भान करके और इच्छाको तजकर यदि ज्ञानस्वरूपमें स्थिर हो तो उस जीवकी इच्छानुसार (-ज्ञान अनुसार) ही सभी हो.... अर्थात् जब तक जीवको परमें कुछ करनेकी इच्छा है तब तक, उसका ज्ञान अपूर्ण है। लेकिन जब जीव इच्छा छोड़कर केवलज्ञान प्रकट करे तब, जैसा उसके ज्ञानमें जाननेमें आया वैसा ही पदार्थोंका परिणमन होता है। इसलिये कहा है कि—जब तक इच्छा है तब तक इच्छा अनुसार (ज्ञान अनुसार) कार्य होते ही नहीं और जहाँ इच्छा नहीं वहाँ इच्छा अनुसार ही (ज्ञान अनुसार ही) कार्य पदार्थोंकी स्वतंत्रतासे स्वयमेव होता है। इच्छावाले जीवको इच्छानुसार कार्य होता नहीं है इसलिये इच्छावाला जीव आकुल-व्याकुल ही रहता है, इसलिये इच्छा वह ही दुःख है। जहाँ इच्छा नहीं वहाँ ज्ञानमें जाननेमें आया उसी प्रकार पदार्थ परिणमित होते है, वहाँ आकुलता रहती नहीं है, निराकुल ज्ञातापना है, ऐसा निराकुलपना वह सुख है अर्थात् कि ज्ञान वह ही सुख है।

जितने जितने अंश सम्यग्ज्ञान आत्मामें एकाग्र होता है उतने अंश निराकुलता वृद्धिगत होती जाती है।

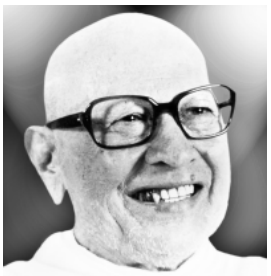

युवा-विभाग

(इस विभागके अंतर्गत मुमुक्षुओंकी पूज्य गुरुदेवश्रीके साथ रात्रिके समय चर्चा हुई, वह दी जा रही है।)

प्रश्न :–राग पुद्गलका परिणाम है, पुद्गलका परिणाम है....ऐसा ही कहते रहेंगे तो रागका भय ही नहीं रहेगा, और फिर तो महादोष उत्पन्न होगा ?

उत्तर :–ऐसा नहीं होगा, रागकी रुचि ही उत्पन्न नहीं होगी। रागकी रुचि छोड़नेके लिये ही ऐसा जानना चाहिये कि राग पुद्गलका परिणाम है। भाई ! शास्त्रमें कोई भी कथन स्वच्छन्दता उत्पन्न करनेके लिये नहीं किया है, वीतरागता उत्पन्न करनेके लिये ही किया है।

प्रश्न :–भगवानकी भक्ति आदिका शुभराग ज्ञानीको भी आता है और उस रागको पुद्गल ही व्याप्त होता है—ऐसा कहा जाता है; परंतु यह बात बराबर नहीं लगती ?

उत्तर :–भाई ! राग तो जीवका ही परिणाम है; परंतु परके लक्षसे होता है, जीवका स्वभाव नहीं है, उपाधिभाव है; अतः उससे निवृत्त होनेके लिये उसे पुद्गलकर्म भी कहा है।

प्रश्न :–राग आत्माका नहीं तो क्या राग जड़में होता होगा ?

उत्तर :–राग जीवका स्वाभाविक परिणाम नहीं है, इसलिये शुभाशुभ रागको जड़ और अचेतन कहा है। राग आत्माका स्वरूप है ही नहीं, चैतन्यपुञ्ज कभी रागरूप हुआ ही नहीं। आत्माके भान बिना अनन्तबार नववें ग्रैवेयकमें गया, किन्तु सम्यग्दर्शन बिना लेशमात्र भी सुख नहीं पाया। अलिंगग्रहणके बोलमें भी यतिकी क्रिया पंच महाव्रतादिका आत्मामें अभाव कहा है। समयसार गाथा १८१ से १८३ तकमें भी कहा है कि ज्ञानक्रियारूप आत्मा और क्रोधादिक्रियारूप आस्रव—ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। उनके प्रदेश भिन्न होनेसे दो वस्तुओंकी सत्ता ही भिन्न-भिन्न है। बात यह है कि आस्रवके ऊपरसे दृष्टि हटाना और द्रव्यके उपर दृष्टि देना—यहाँ अभीष्ट है। जहाँ तेरी वस्तु है नहीं, वहाँसे दृष्टि उठा ले और जहाँ तेरी वस्तु है, वहाँ दृष्टि डाल; तभी तुझे सुख और शांति मिलेगी।

तदपि मूढ भयवश हो कामी,
वृथा जलत हिय हो न अकामी।३४।

प्रश्न :–क्या राग आत्मासे भिन्न है और क्या यह निषेध करने योग्य भी है?

उत्तर :–हाँ, राग आत्मासे भिन्न है, रागमें ज्ञानगुण नहीं है और जिसमें ज्ञानगुण न हो, उनको आत्मा कैसे कहा जाय—इसलिये राग है, वह आत्मा नहीं है। आत्माकी शक्तिके निर्मल परिणामसे रागका परिणाम भिन्न है। आत्मासे भिन्न कहो या निषेध योग्य कहो–एक ही बात है। मोक्षार्थीको जैसे पराश्रित रागका निषेध है, उसीप्रकार पराश्रित ऐसे सर्व व्यवहारका भी निषेध ही है, राग और व्यवहार दोनों एक ही कक्षामें हैं—दोनों ही पराश्रित होनेसे निषेध योग्य है और उनमें विभक्त चैतन्यका एकत्वस्वभाव वही परम आदरणीय है।

बालकोंके लिये दिये गये प्रश्नोंके उत्तर

(१) देव
(२) सोनगढ़
(३) हनुमान
(४) सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र
(५) जेठालालभाई
(६) पांच
(७) महावीर
(८) अतिवीर, वर्धमान
(९) वांकानेर
(१०) गुणावा
(११) सुवर्णपुरी
(१२) सहजात्मस्वरूप सर्वज्ञदेव परमगुरु
(१३) फतेहमंदकुमार
(१४) समयसार
(१५) ॐ सहज चिदानंद
(१६) श्रीपृथ्वीषेण, श्रीसुप्रतिष्ठि
(१७) शांतिनाथ
(१८) श्रेयांसनाथ
(१९) निलांजना
(२०) गिरनार

प्रौढके लिये दिये गये प्रश्नोंके उत्तर

(१) आवश्यक
(२) अरिहंत
(३) नास्ति
(४) शुक्ल
(५) मिथ्यात्व
(६) बडवानी
(७) सुदर्शन
(८) पांच
(९) तीन
(१०) समझ
(११) अन्योन्य
(१२) माया
(१३) कायक्लेश
(१४) ४४
(१५) ध्रौव्य
(१६) क्षायिक
(१७) १०१
(१८) ज्योतिषी
(१९) अमृतचंद्र
(२०) १६०

सर्व तत्त्वके आप हि ज्ञाता,
मात बालवत् शिक्षा दाता;

प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्रीकी गुरुभक्तिपूर्ण आध्यात्मिक तत्त्वचर्चा

प्रश्न :— *होना हो वह क्रमानुसार होता है, इसलिये नवीन पुरुषार्थ करनेकी क्या जरूरत है?*

समाधान :—जो होना है वैसा हो—ऐसा एकान्त नहीं है; उसमें स्वभाव–काल–पुरुषार्थ सब साथ होते हैं। वहाँ पुरुषार्थका कारण मुख्य है। जो पर्याय प्रकट होनी हो वह होती है, परन्तु उसमें पुरुषार्थ साथ होता है। पुरुषार्थ बगैर कोई पर्याय प्रकट हो ऐसा नहीं होता। स्वभाव–काल–पुरुषार्थ–देशनालब्धि सब साथ होते हैं।

प्रश्न :— *भावना और धारणामें क्या अन्तर है?*

समाधान :—धारणामें तो घोख (रट) रखा है और भावना तो अंतरमें स्वयं भावपूर्वक करता है। भावना भावनामें भी फेर होता है। भावना किया करे कि मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ, परन्तु अपने अंतरमेंसे आयी हुई भावना हो वह जुदी होती है। मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ, शुद्ध हूँ ऐसे ऊपरी भावना तथा गहरी जो अंतर्गत भावना वह और ही कुछ होती है। धारणामें तो घोखा (रटा) करता है।

प्रश्न :— *बारम्बार एक ही प्रकारके विचार चलते रहें वह भावना कहलाए?*

समाधान :—विचार चलते रहें वह नहीं, परन्तु अंतरमेंसे—गहराईमेंसे—वैसे होना चाहिये वह भावना है। मात्र घोखा करे या खाली विकल्प किया करे कि मैं त्रिकाल शुद्ध–शुद्ध हूँ ऐसे नहीं। भावनामें विचार तो आते हैं तथापि अंतरमेंसे अपना हृदय भेदकर कुछ आना चाहिये। भावना अर्थात् अंतरंगमेंसे आना चाहिये कि यह कोई विभाव मुझे नहीं चाहिये; मैं तो त्रिकाल शुद्ध आत्मा हूँ, स्वयंसिद्ध ज्ञायक हूँ।—इसप्रकार अंतरसे, अंतरंगमें हृदय भेदकर आना चाहिये।

प्रश्न :— *ज्ञानमें तो समझ पड़ती है, परन्तु विश्वास नहीं आता।*

समाधान :—ज्ञानमें समझ पड़े, किन्तु प्रतीति ऐसी यथार्थ होनी चाहिये कि—

भव्य साधुजनके हो नेता,
मैं भी भक्ति सहित थुति देता।३५।

यह ज्ञायक सो ही मैं हूँ, दूसरा कोई मैं नहीं। ऐसी दृढ़ श्रद्धा–दृष्टि अपने पर स्थापित करनी चाहिये। फिर चाहे जो भाव आयें तथापि मैं चैतन्य ही हूँ—ऐसा अंतरसे होता है। घोखनेरूप हो वह अलग बात है। यहाँ अंतरमेंसे दृढ़ विश्वास आना चाहिये। यथार्थ प्रतीति हो उसे यथार्थ पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता।

प्रश्न :— *कल बात हुई थी कि भावना भावनामें बड़ा अन्तर होता है। एक भावना तो इतनी प्रबल होती है कि अंतरको भेद डाले ?*

समाधान :—भावना ऐसी उग्र हो कि अंतरमें भेदज्ञान हो तभी छुटकारा हो। मन्द–मन्द भावना अथवा ऊपरी–ऊपरी भावना या मंद–मंद पुरुषार्थ किया करे, वह उग्र भावना नहीं है। यह तो अंतरको भेद डाले—अंतरमेंसे भेदज्ञान प्रकट कर दे—ऐसी भावना कोई जुदी ही होती है। अंतरसे चैतन्यके मार्गमें चलनेपर उसे शुद्ध परिणति प्रकट होती है और विभावपरिणति पृथक् हो जाती है। अल्प विभावपरिणति अपूर्णताके कारण होती है, परन्तु यह भेदज्ञान करती है कि मैं तो चैतन्य हूँ, यह विभाव मेरा नहीं है।—इसप्रकार अंतरको भेदकर उसकी परिणति चैतन्यकी ओर दौड़ जाती है और वह अपने स्वभावको ग्रहण कर लेती है।

प्रश्न :— *यह भावना मन्द है या तीव्र है वह कैसे पहिचाना जा सके ?*

समाधान :—अपनी मन्दता देखकर पहिचाननेमें आती है कि यह धीमे–धीमे चल रही है, तथा उग्रता नहीं होती इसलिये अभी उग्रताकी कमी है। धीमे–धीमे चले, मन्दगतिसे चले उसे देर लगती है; जिसे उग्रता हो वह त्वरासे पहुँच जाता है। धीमीगतिसे चलनेवाला वहाँ खड़ा रहे तो कैसे पहुँचे ? उसे खयाल आता है कि मैं नहीं पहुँच पा रहा हूँ अतः मेरी गति धीमी है। मैं जहाँ का तहाँ खड़ा हूँ, आगे नहीं बढ़ रहा हूँ।

भावनगर जाना हो और धीमी गतिसे चले तो पहुँचनेमें देर लगे, तेजगतिसे चलनेवाला शीघ्र पहुँच जाता है। नहीं पहुँचा जाता तो समझना कि धीमी गति है; (भावना) ऊपर–ऊपरसे हो रही है; अंतरसे प्रकट हो तो पहुँच जाता है।

प्रश्न :— *जोर तो स्वयंको लगाना है न ?*

समाधान :—पुरुषार्थ तो स्वयंको ही करनेका है, दूसरा कोई नहीं करवा देता। परिभ्रमण करनेवाला भी स्वयं और मोक्ष प्राप्त करनेवाला भी स्वयं–स्वतंत्र है।

श्री चन्द्रप्रभ जिन-स्तुति	प्रभू चन्द्रसम शुक्ल वर वर्णधारी, जगत नित प्रकाशित परम ज्ञानचारी;

बाल विभाग

शीलवती नीली सुन्दरी

लाट देशमें जिनदत्त सेठकी पुत्रीका नाम नीली था, वह सेठ जिनधर्मी था और जिनधर्मीके अलावा अन्य धर्मियोंसे अपनी पुत्री नहीं ब्याहना चाहता था।

इसी देशके समुद्रदत्त सेठका पुत्र सागरदत्त एक बार नीली का रूप देखकर मोहित हो गया और उसने उसके साथ शादी करनेकी इच्छा व्यक्त की, परन्तु वह जिनमतका द्वेषी, विधर्मी होनेसे जिनदत्त सेठ उसके साथ नीलीकी शादी करनेको तैयार नहीं हुआ।

तब उस सागरदत्तने कपटपूर्वक जिनधर्म स्वीकार करनेका नाटक किया और श्रावक जैसा आचरण करने लगा। अतः ''सागरदत्तने मिथ्यामार्ग छोड़ दिया और जिनधर्म धारण किया।''—ऐसा समझकर जिनदत्तने नीलीकी शादी उसके साथ कर दी।

शादीका प्रयोजन सिद्ध होने पर सागरदत्त फिरसे कुमार्गी बन गया, उसने नीलीको भी उसके पिता के घर जानेसे रोका....इससे जिनदत्त सेठ को बहुत पश्चाताप हुआ और उसने अपनी पुत्रीको मानो कुएँ में डाल दिया हो ऐसा दुःख हुआ।

सच है, पुत्रीकी विधर्मीके साथ शादी कर देनेसे अच्छा है कि उसे कुएँमें डाल देना; क्योंकि वह उससे भी खराब है, क्योंकि मिथ्यात्वके संस्कार से अनंत भवोंका बुरा होता है। जो अपनी पुत्रीको विधर्मिओंको देते हैं, वे उनका बहुत बड़ा अहित करते हैं, उन्हें जिनधर्मकी श्रद्धा नहीं होती। नीलीको भी इस बातका दुःख हुआ, परन्तु वह स्वयं दृढ़तासे जिनधर्मका पालन करती रही। सच है, जिसे जिनधर्मका सच्चा रंग लगा है, उसे किसी भी प्रसंगमें उसका उत्तम संयम नहीं छूटता। वह भले प्राण त्याग दे, परन्तु जिनधर्मको नहीं त्यागता।

नीलीके ससुर समुद्रदत्तने विचार किया–''हमारे गुरुओंके संसर्गसे नीली अपना जिनधर्म छोड़ देगी और हमारा धर्म अंगीकार कर लेगी।'' ऐसा विचार करके उसने अपने मतके भिक्षुओंको भोजनके लिये निमंत्रित किया, परन्तु नीलीने युक्तिसे उसकी परीक्षा करके उन्हें मिथ्या ठहराया और अपने जिनधर्ममें दृढ़ रही। अपने गुरुओंका ऐसा अपमान होने पर

जिनं जितकषायं महत् पूज्य मुनिपति,
नमूं चंद्रप्रभ तू द्वितिय चंद्र जिनपति।३६।

समुद्रदत्तके कुटुम्बीजन नीलीके प्रति द्वेषबुद्धि रखने लगे, उसे अनेक प्रकारसे परेशान करने लगे और उसकी ननदोंने तो उसके ऊपर परपुरुषके साथ व्यभिचारका कलंक तक लगा दिया और यह बात प्रसिद्ध करने लगी।

निर्दोष शीलवती नीलीके ऊपर पापकर्मके उदयसे बड़े दोषोंका झूठा कलंक लगा। नीली तो धैर्यपूर्वक जिनमंदिरमें भगवानके पास पहुँच गई और जब तक कलंक दूर नहीं होगा, तब तक मैं भोजन नहीं करूँगी तथा अनशन व्रत धारण करूँगी–ऐसी प्रतिज्ञा करके जिनेन्द्रदेवके सामने बैठ गई और अंतरंगमें जिनेन्द्रदेवके गुणोंका स्मरण करके उनका चिंतवन करने लगी।

शीलवती नारी पर कलंक कुदरत कैसे देख सकती थी? उसके शीलके प्रभावसे उस नगरके रक्षक देवता वहाँ आये और उन्होंने नीलीसे कहा—''हे महासती ! तू प्राणत्याग न कर, तेरा कलंक सुबह ही दूर होगा ....इसलिये तू चिन्ता न कर।'' उन देवताओंने राजाको भी स्वप्नमें एक बात कही। बस, रात्रि हुई...नगरका दरवाजा बन्द हो गया। सुबह हुई...लेकिन नगरका दरवाजा ऐसा जबरदस्त लग गया कि किसी प्रकारसे भी नहीं खुला। नगरके रक्षक सिपाही घबड़ाते हुए राजाके पास पहुँचे और यह बात राजाको बताई तथा खोलनेका उपाय पूछा। राजाको रातमें स्वप्न आया ही था कि नगरका दरवाजा बन्द हो जायेगा और शीलवती नीलीका पैर लगने पर ही वह खुलेगा।

अनेक प्रयत्न करने पर भी दरवाजा नहीं खुला। आखिरमें राजाकी आज्ञासे मंदिरसे नीलीको बुलवाया गया। णमोकार मंत्र जपती हुई नीली वहाँ आई और उसके पैरका स्पर्श होते ही दरवाजा खुल गया....। उसके शीलका प्रभाव देखकर सर्वत्र उसकी जय-जयकार होने लगी और उसका कलंक दूर हुआ।

सागरदत्तने भी प्रभावित होकर उससे क्षमा माँगी और जिनधर्म अंगीकार करके अपना हित किया। उसके बाद वह शीलवती नीली संसारसे विरक्त होकर आर्यिका बनी ....राजगृहीमें समाधि-मरण किया, वहाँ आज भी एक स्थान 'नीलीबाई की गुफा' के नामसे प्रसिद्ध है और जगतको शीलकी महिमा बता रहा है। इसी प्रकार महासती सीताजीके शीलरत्नके प्रभावसे अग्निकुंड कमलका सरोवर होना एवं सेठ सुदर्शनका शीलव्रतमें दृढ़ताकी कथा जगप्रसिद्ध है।

सुवर्णपुरी समाचार :—

अध्यात्मतीर्थ सुवर्णपुरीका धार्मिक वातावरण अनंत उपकारमय पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी एवं उनके अनन्य भक्त पूज्य बहिनश्री चंपाबेनके कल्याणवर्षी पुण्यप्रतापसे, आशीर्वादसे देव-गुरु-शास्त्रकी, धर्मकी आराधनामय रहता है एवं पं. रत्नश्री हिंमतभाई जे. शाहने बनाये हुए सुमधुर काव्यसे वातावरण भक्तिमय रहता है :—

प्रातः : ६-३० से ६-५० : पूज्य बहिनश्रीकी धर्मचर्चाकी ऑडियो-टेप
सुबह : ८-४५ से ९-४५ : परमागम श्री समयसार पर पूज्य गुरुदेवश्रीका (१८वीं बारका) सीडी प्रवचन
दोपहर : ३-०० से ४-००: श्री प्रवचनसार पर पूज्य गुरुदेवश्रीका टेप प्रवचन
दोपहर : ४-०० से ४-३० : श्री जिनेन्द्र भक्ति
रात्रि : ७-३० से ८-३० : श्री अष्टप्राभृत पर पूज्य गुरुदेवश्रीका सीडी प्रवचन

जम्बूद्वीप-बाहुबली जिनायतन प्रथम वार्षिक दिन तथा श्री बाहुबली मुनीन्द्र महामस्तकाभिषेक

श्री जम्बूद्वीप-बाहुबली जिनायतन प्रथम वार्षिक दिन पोष शुक्ल-१३, ता. ११-१-२०२५ शनिवारसे पौष शुक्ल-१५, ता. १३-१-२०२५, सोमवार त्रिदिवसीय महोत्सवके रूपमें मनाया जाएगा और ता. १३-१-२०२५ के दिन श्री बाहुबली मुनीन्द्र महामस्तकाभिषेक किया जायेगा ।

(पृष्ठ १९ का शेष भाग) (मुक्तिका मार्ग)

पंचेन्द्रियके विषयोंमें सुखका अनुभव नहीं हुआ।'' तथा वह यह भी जानले कि मेरे अभी तकके उपाय असत्य थे, तब वह सच्चे उपायोंका निश्चय करके यह निर्णय करता है कि मुझे जैसे भी बने वैसे इच्छा नामके रोगको मिटानेके लिए सत्य धर्मका साधन करना चाहिए। मेरा सुख मेरेमें हैं, मेरा सुख बाह्यमें नहीं है, इसलिए बाह्यवस्तुकी इच्छा सुखके लिए व्यर्थ है।

मुझे परसे लाभ होगा यों मानकर जो परद्रव्यकी इच्छा करता है वह अज्ञानजनित इच्छा है, उस इच्छारूपी रोगको मिटानेका उपाय सत्य धर्म है। और वह उपाय उनके द्वारा जाना जा सकता है जिनके पहले इच्छारूपी रोग था और फिर जिनने आत्माकी पहिचान करके तथा सत्यधर्मका साधन करके उस इच्छारूपी रोगका सर्वथा नाश किया हो। जितने भी सिद्ध, केवली-अरहंत हुए हैं उन सबको भी पहले यह रोग था। अज्ञानदशामें वे भी दुःखमें पड़े थे, किन्तु बादमें सच्चे स्वरूपका भान करके और शुद्धोपयोगरूप सत्धर्मका साधन करके वीतराग हो गये, इच्छा रहित हो गये। वे सर्वज्ञ भगवान ही सच्चे वैद्य हैं। राग, धर्म, सच्ची प्रवृत्ति, सम्यग्ज्ञान और वीतरागदशारूप निरोगता इन सबका प्रारम्भसे अन्ततक सम्पूर्ण ज्ञान सर्वज्ञको ही होता है और वे ही दूसरोंको यह सब बतलाते हैं, इसलिए सर्वज्ञ भगवान ही परम वैद्य है। उनके द्वारा दिखाये गये सम्यक्मार्गका सेवन करना चाहिए। (क्रमशः) ✻

(१३६) छोटे बच्चोंके लिए प्रश्नोत्तर

(रिक्त स्थानकी पूर्ति किजीये।)

(१) पूज्य गुरुदेवश्री अभी ..... गतिमें है।

(२) परम पूज्य कानजीस्वामी आखरी ४५ वर्ष ..... में रहे थे।

(३) सती अंजनाके पुत्रका नाम..... था।

(४) मोक्षमार्गमें (१) ..... (२) ..... (३) ..... रत्न हैं।

(५) पूज्य बहिनश्री चंपाबेनके पिताका नाम ..... था।

(६) भरतक्षेत्रमें भगवानके ..... कल्याणक होते हैं।

(७) पावापुरीसे ..... भगवान मोक्ष गये है।

(८) वीर, ..., सन्मति, ... और महावीर यह एक ही भगवानके नाम है।

(९) पूज्य सद्गुरुदेवको पहला ॐकार ध्वनि ..... गाँवमें सुनाई दिया था।

(१०) गौतमस्वामी ..... से मोक्ष गये है।

(११) परम पूज्य कानजीस्वामीकी तपोभूमिको ..... कहते हैं ।

(१२) परम पूज्य कानजीस्वामीका आखरी मंत्र ..... था।

(१३) पूज्य गुरुदेवश्री विदेहक्षेत्रमें ..... नामके राजपुत्र थे।

(१४) परम पूज्य सद्गुरुदेवश्रीने .....शास्त्र पर १९ बार प्रवचन दिये थे।

(१५) पूज्य गुरुदेवश्री भक्तोंको शास्त्रमें लाल अक्षरोंसे ..... लिख देते थे।

(१६) सुपार्श्वनाथ भगवानके माताका नाम ..... पिताका नाम..... था।

(१७) हिरन ..... भगवानका चिह्न है।

(१८) आदिनाथ भगवानको एक वर्ष पश्चात् ..... राजाने आहार दिया था।

(१९) ..... देवीकी मृत्युसे ऋषभदेव भगवानको वैराग्य हुआ था।

(२०) नेमिनाथ भगवान ..... पर्वत परसे मोक्ष गये थे।

प्रौढ व्यक्तियोंके लिए जानने योग्य प्रश्न तथा उत्तर

दिये गये विकल्पोंमेंसे योग्य विकल्प पसंद करके रिक्त स्थानकी पूक्ति किजीये।

(१) जो श्रावक-मुनि धार्मिक क्रियाएँ एवं नियमोंका प्रतिदिन पालन करता है उसे ..... कहते हैं। (आवश्यक, प्रतिमा, गुणव्रत)

(२) जिन्हें पुण्यका उत्कृष्ट उदय है फिर भी रंचमात्र भी मोह नहीं वे ..... परमेष्ठि है। (सिद्ध, साधु, अरिहंत)

(३) जीव अरूपी है वह ..... से कथन है। (अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति)

(४) दसवें गुणस्थानमें ..... ध्यान होता है। (पित, पद्म, शुक्ल)

(५) अतत्त्व श्रद्धान वह ..... है। (मोह, मिथ्यात्व, कषाय)

(६) रावणके छोटेभाई कुंभकर्ण ..... से मोक्ष गये है। (गजपंथा, शत्रुंजय, बडवानी)

(७) पांच मेरुपर्वतमेंसे ..... मेरु पर्वत जम्बूद्वीपमें हैं। (अचल, सुदर्शन, विजय)

(८) दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि कुल ..... आचार है। (छह, आठ, पांच)

(९) चार संज्ञामेंसे सातवें गुणस्थानमें ..... संज्ञा होती है। (एक, तीन, दो)

(१०) पूज्य गुरुदेवश्री उपदेशमें मुख्यरूपसे ..... पर जोर देते थे। (क्रिया, देवदर्शन, समझ)

(११) बेलनसे रोटी बनती है ऐसा माननेवाला ..... अभाव भूलता है। (अन्योन्य, प्राग, अत्यंत)

(१२) स्वरूपकी अरुचि वह अनंतानुबन्धी ..... है। (माया, मान, लोभ)

(१३) २२ परिषहोंको शांत भावसे सहन करना वह ..... तप है। (कायक्लेश, विनय, वृत्तिपरिसंख्यान)

(१४) ''यथार्थ रुचि लगे तो वस्तुकी प्राप्ति हुए बिना नहीं रहे'' यह बात पूज्य बहिनश्रीके वचनामृत बोल नंबर ..... में की है। (४०, ४४, ६८)

(१५) हरा आममेंसे पीला हुआ उसमें वर्णगुण कायम कहा इसलिये वह ..... है। (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य)

(१६) दर्शनमोहकी सात प्रकृतियोंका पूर्णरूपसे क्षय होकर जो सम्यक्त्व होता है उसे ..... सम्यक्त्व कहते है। (क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक)

(१७) अघाति कर्मोंकी उत्तर प्रकृति ..... है। (४७, १०८, १०१)

(१८) समवसरणके नववें कोठेमें ..... देव होते हैं। (ज्योतिषी, भवनवासी, व्यंतर)

(१९) तत्त्वार्थसार शास्त्रकी रचना ..... आचार्यदेवने की है।
(कुंदकुंद, अमृतचंद्र, शिवकोटि)

(२०) विदेहक्षेत्रमें ..... कर्मभूमियाँ हैं। (१७०, ९०, १६०)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यामंदिर ट्रस्ट, सोनगढ – भोजनालय नियमावली

(श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुंबई द्वारा संचालित)

१. जो साधर्मी मुमुक्षु सोनगढ में पूज्य सद्गुरुदेवश्री व तद्भक्त पूज्य बहिनश्री के तत्त्वज्ञान का लाभ लेने के लिये आते हैं व स्थायी निवास करते हैं, उनके लिये भोजन की सुविधा रखी गयी है।

२. बिना किसी पूर्व सूचना अथवा भोजन के पास के बिना भोजनालय में प्रवेश की अनुमति नहीं होगी।

३. स्थायी निवास करनेवाले मुमुक्षु साधर्मीयों के लिये अर्धमासिक तथा मासिक पास की सुविधा उपलब्ध रहेगी।

४. धर्मशाला में ठहरे हुये साधर्मियोंको भी भोजन पास लेना अनिवार्य है।

५. बाहर से आनेवाले यात्रासमूह के लिये पूर्व सूचना देने पर ही भोजन उपलब्ध कराया जा सकेगा।

६. २० यात्रियों से अधिक यात्रासंघ को १ दिन पूर्व में अनुमति लेना अनिवार्य है।

कूपन प्राप्त करने के लिये स्थान : भोजनशाला कार्यालय, समिति, सोनगढ

नाश्ता व भोजन के कूपन प्राप्त करने का समय : १ दिन पूर्व अथवा

नाश्ता – प्रातः ७.00 बजे, भोजन–प्रात : १0.00 बजे तक और सायं–३.00 बजे तक।

- तत्काल आनेवाले यात्रिकों व अन्य व्यक्तियों को भी पास लेना अनिवार्य है। तथा उनके नाश्ते व भोजन का समय निम्न प्रकार से रहेगा।

नाश्ता–प्रातः ८ से ८.१५ तक।
भोजन दोपहर : १२.१५ से १ तक।
सायं सूर्यास्त से २० मिनिट पूर्व तक।

- आप अपने आगमन तथा भोजन की पूर्व सूचना निम्नलिखित नं. पर वोटसेप द्वारा निर्धारित समय के पूर्व अवश्य करें, जिससे आपकी सुन्दर व समुचित व्यवस्था की जा सके ।

(वैभव शास्त्री : **9499796998**)

पूज्य गुरुदेवश्रीके हृदयोद्‌गार

● चौथे गुणस्थानमें उपादेयरूप-शुद्धभाव अल्प है, वह भाव पाँचवे-छट्ठे गुणस्थानमें विकसित होता जाता है। और हेयरूप-विकार चौथे गुणस्थानकी अपेक्षा पांचवें-छट्ठे गुणस्थानमें मन्द होता जाता है। जैसे-जैसे शुद्धता बढ़ती है, वैसे-वैसे गुणस्थान-क्रम भी आगे बढ़ता जाता है। गुणस्थान-अनुसार स्वज्ञेयको ग्रहण करनेकी शक्ति भी विकसित होती जाती है।

परद्रव्यको छोड़नेसे गुणस्थान बढ़े - ऐसा नहीं है। लंगोटी होने पर पाँचवाँ व लंगोटी छूटने पर छट्ठा-सातवाँ गुणस्थान हो - ऐसा नहीं है। किन्तु अन्तरमें द्रव्यको ग्रहण कर उसके आचरणकी उग्रता होने पर गुणस्थान बढ़ता है। बाह्यमें गुणस्थानानुसार निमित्त संबंध छूट जाते हैं। जैसे कि छट्ठे गुणस्थानमें सदोष-आहार लेनेका विकल्प नहीं उठता और वस्त्रका संयोग भी नहीं होता; पर वह गुणस्थान तो अंतरशुद्धिके बलसे टीका हुआ है। कोई बाह्यमें वस्त्र-त्याग कर बैठनेसे छट्ठा गुणस्थान नहीं हो जाता।

गुणस्थान-अनुसार ही ज्ञान व उसी अनुसार क्रिया होती है। कोई चौथे गुणस्थानमें केवलज्ञान अथवा मनःपर्ययज्ञान नहीं होता; वैसे ही क्रिया अर्थात् शुभभाव भी गुणस्थान अनुसार ही होते हैं। अन्तरमें चौथा गुणस्थान वर्तता हो व बाह्यमें द्रव्यलिंगी-मुनि हो, यानी छट्ठे गुणस्थान जैसी क्रिया हो - उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है। यहाँ तो यह बात है कि जो गुणस्थान प्रकट हुआ, उस अनुसार ही क्रिया होती है। अन्तरमें छट्ठा गुणस्थान हो व बाह्यमें व्यापार करता हो- ऐसा नहीं हो सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं कि शुभपरिणामके आधारसे गुणस्थान होता है। ६७२।

● दो जीव सम्यग्दृष्टि हों, उनमेंसे एक तो ध्यानमें बैठा हो व दूसरा युद्ध-मैदानमें खड़ा हो। तब दूसरे सम्यग्दृष्टिको ऐसा संदेह नहीं होता कि अरे! हम दोनों सम्यग्दृष्टि होने पर भी वह तो ध्यानमें बैठा है और मेरे युद्ध-क्रिया - ऐसी शंका नहीं होती; क्योंकि सम्यग्दर्शन उदयभावके अधिन नहीं है; वह तो अन्तरस्वभाव-पर अवलंबित है। धर्मीको उस स्वभावका आलंबन युद्धके समय भी नहीं हटता। ज्ञायकप्रमाण ज्ञान है तथा यथानुभवप्रमाण स्वरूपाचरण चारित्र है। बाह्य-क्रिया अनुसार अथवा शुभराग-अनुसार चारित्र नहीं बतलाया है, पर वह तो अन्तर-अनुभव प्रमाण होता है। देखो, यह धर्मीकी शक्ति! - ऐसी ज्ञाताकी सामर्थ्य है। ६७४।

३६
आत्मधर्म
जनवरी २०२५
अंक-५, वर्ष १९

Posted at Songadh PO
Publish on 5-1-2025
Posted on 5-1-2025

Registered Regn. No. BVR-368/2024-2026
Renewed upto 31-12-2026
RNI Registration No. GUJHIN/2006/18882
वार्षिक शुल्क 9=00 आजीवन शुल्क 101=00

Printed & published by Navin Popatlal Shah on behalf of shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust and Printed at Smruti Offset, 13, Kahanwadi, Ankur School Road At-Songadh Pin-364250 and published from Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust At-Songadh, Ta. sihor, Dist. Bhavnagar Pin-364250.

Editor : Rameshchandra Vrajlal Shah.

If undelivered Please return to :—
Shri Dig. Jain Swadhyay Mandir Trust
SONGADH-364 250 (INDIA)
Phone No. (02846) 244334
Fax (02846) 244662

www.kanjiswami.org
email : contact@kanjiswami.org